सार्थ दशवैकालिक सूत्रम्

(संस्कृत छाया सह)

संपादक

मुनि जयानंद विजय

श्री आदिनाथाय नमः

"प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वराय नमः"

सार्थ दशवैकालिक सूत्रम्

(संस्कृत छाया सह)

-: आशीर्वाद :-

आचार्य श्री विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी

मुनिराज श्री रामचन्द्र विजयजी

-: संपादक :-

मुनि जयानंद विजयजी

पुस्तक का नाम : सार्थ दशवैकालिक सूत्रम्
संपादक : मुनि जयानंद विजय
प्रकाशक : श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल
संचालक :
(१) शा. सुमेरमल केवलजी नाहर, भीनमाल, राज.
(२) मीलियन ग्रुप, मुंबई, दिल्ली, विजयवाडा
(३) श्रीमती सकुदेवी सांकलचन्दजी नेतीजी हुकमाणी परिवार, पांथेडी, राज.
राजेन्द्र ज्वेलर्स, मुंबई -३४
(४) शा. हस्तीमल लखमीचन्द, किरणकुमार, प्रकाशकुमार, किशोरकुमार, उत्सवकुमार
बेटा पोता भलाजी नागोत्रा सोलंकी परिवार, बाकरा, राज. मुक्ति मार्केटिंग, चेन्नई
(५) शा. दूधमल, नरेन्द्रकुमार, रमेशकुमार बेटा पोता लालचन्दजी मंडोत परिवार,
बाकरा (राज.) मंगल आर्ट, मुंबई -२
(६) कटारिया संघवी लालचन्द, रमेशकुमार, गौतमचन्द, विनोदकुमार, महेन्द्रकुमार, रविन्द्रकुमार
बेटा पोता सोनाजी भेराजी, धाणसां (राज.) श्री सुपर स्पेअर्स, विजयवाडा
(७) एम. आर. इम्पेक्स, भीनमाल, मुंबई-७ फोन : ०२२-२३८०१०८६
(८) गुलाबचन्द, राजेन्द्रकुमार, छगनलालजी कोठारी परिवार, अमेरीका (आहोर-राज.)
(९) शा. शांतिलाल, दीलीपकुमार, संजयकुमार, अमनकुमार, अशोककुमार, बोटा पोता मूलचन्दजी
उमाजी तलावत, आहोर, राजेन्द्रा मार्केटींग, विजयवाडा
(१०) शा. समरथमल, सुकराज, मोहनलाल, महावीरकुमार, विकासकुमार, कमलेश, अनिल, विमल,
श्रीपाल, भरत फोला मुथा परिवार सायला (राज.) अरुण एन्टरप्राईजेस, गुन्टूर
(११) शा. सुमेरमल, नितीन, अमीत, मनीषा, सुशबु, बेटा पोता पेराजमलजी, प्रतापजी
रतनपुरा बोहरा परिवार मोदरा राज. गुन्टूर
(१२) शा. नरपतराज, ललीतकुमार, महेन्द्र, शैलेष, निलेष, कल्पेश, राजेश, महीपाल, दिक्षीत,
अशीष, केतन, अश्वीन, रींकेश, यश बेटा पोता खीमराजजी थानाजी कटारीया
आहोर (गुन्दूर)

प्राप्ति स्थान :
(१) शा. देवीचन्दजी छगनलालजी, सदर बजार, भीनमाल, राज. ३४३ ०२९
(२) श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन पेढ़ी, साँथू, राज. ३४३ ०२६
(३) शा. नागालाल वजाजी खींवसरा, गोपीपुरा, काजी का मैदान, शांतिविला अेपार्टमेन्ट, रूरत, गुजरात
(४) महाविदेह भीनमालधाम, तलेटी हस्तिगिरि लिंक रोड़, पालीताणा, गुजरात - ३६४ २७०

- : सौजन्य :-

आहोर निवासी स्व. मातुश्री ओटीबाई के ८१ आयंबिल सिद्धितप, उपधान, अट्ठाई आदितप एवं वयोवृद्ध अवस्था में ५०० आयंबिल का तप प्रारंभ किया ४५० आयंबिल पूर्ण हुए २ वर्ष में । आचानक पोषवदि तीज के दिन सूर्यास्त के साथ उनका जीवन समाधि पूर्वक अस्त हो गाया ।
उनके आत्म श्रेयार्थ यह पुष्प प्रकाशन

हस्ते उनके सुपुत्र शंकरलाल, प्रकाशचन्द, किशनकुमार, बेटा पोता कपूरचन्दजी केसरीमलजी
बागरेचा परिवार, शा. शंकरलाल कपूरचन्दजी, हॉस्पीटल रोड़, आहोर

शा. शंकरलाल जैन, २१/ए, बीग वलायल करा स्ट्रीट, मदूराई-६२५००१ फोन :०४५२-२३४६१२२

प्रत : १००० **वि.सं. २०६१**

प्रस्तावना

ग्यारह[1] अंग, बारह[2] उपांग, छः[3] छेद, चार[4] मूल, दश[5] पयन्ना, नन्दी और अनुयोगद्वार ये पैंतालीस आगम जैनों को मान्य हैं, जो कि खास सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् श्रीमहावीरस्वामी प्ररूपित और गणधर, श्रुतकेवली, पूर्वधरबहुश्रुत गुम्फित[6] माने जाते हैं। दशवैकालिकसूत्र उन्हीं में से साध्वाचार विषयक[7] एक है।

इसके रचनेवाले महावीरस्वामी के चौथे पाट पर विराजमान **प्रभवस्वामी** के शिष्य युगप्रधानाचार्य श्रुतकेवली[8] भगवान् श्री **शय्यम्भवस्वामीजी**[9] महाराज हैं। इसीसे दशवैकालिक को सूत्र (आगम) की संज्ञा दी गयी है। क्योंकि-

सुत्तं गणहररइयं, तहेव पत्तेयबुद्धरइयं च।

सुअकेवलिणा रइयं, अभिन्नदसपुव्विणा रइयं।।१।।

- गणधरों के बनाये हुए, प्रत्येक बुद्ध मुनिवरों के रचे हुए, श्रुतकेवली और संपूर्ण दश पूर्वधारियों के द्वारा लिखे हुए शास्त्र सूत्र (आगम) कहलाते हैं।

यह सूत्र श्रीशय्यम्भवस्वामी ने अपने अल्पायुष्क-शिष्य मनक के वास्ते बनाया है। इसको पढ़कर मनक ने अत्यल्प समय में ही स्वर्ग को प्राप्त किया था। इसीसे इस सूत्र की महत्ता का अनुमान भली प्रकार किया जा सकता है। इस सूत्र में दस अध्ययन हैं, उन्हीं का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है-

---

१ आचारांग १, सुयगडांग २, ठाणांग ३, समवायांग ४, भगवति ५, ज्ञाताधर्मकथा ६, उपासक दशा ७, अन्तकृद्दशा ८, अनुत्तरोपपातिक ९, प्रश्नव्याकरण १०, और विपाकश्रुत ११।

२ **औपपातिक, रायपसेणी, जीवाभिगम, पन्नवणा, जंबूदीपपन्नति, चंदपन्नति, सूरपन्नति, कप्पिया, कप्पवडिंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वण्हिदसा, वर्तमान में कप्पिया आदि पांचों का 'निरयावलिया' नामक सूत्र है।**

३ दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहारश्रुत, निशीथ, जीतकल्प, महानिशीथ।

४ आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, पिंडनिर्युक्ति।

५ चउसरण, आउरपच्चक्खाण, भत्तपयन्ना, संथार पयन्ना, मरणविही, देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवेयाली, चंदाविज्ज, गणिविज्जा, जोइसकरंड।

६ बनाये हुए।

७ साधु और साध्वियों के आहार विहार आदि आचार-विचारों को दिखलाने वाला।

८ **उत्पाद, आग्रायणी, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्याप्रवाद, अबन्ध्यप्रवाद (कल्याणक), प्राणावायप्रवाद, क्रियाविशाल, और लोकबिन्दुसार, इन १४ पूर्वों की विद्या का धारक 'श्रुतकेवली' कहलाता है।**

९ १ जन्म राजगृही नगरी, गोत्र वात्स्य, यज्ञस्तंभ के नीचे शांतिनाथस्वामी की प्रतिमा को देखने से प्रतिबोध पाकर दीक्षा ली और २८ वर्ष गृहस्थ पर्याय, ११ वर्ष सामान्य साधु पर्याय तथा २३ वर्ष युगप्रधानपद पर्याय पालन करके श्रीवीर के निर्वाण से ६८ वर्ष बाद बासठ वर्ष का आयुष्य पूरा करके स्वर्गवासी हुए।

१० श्री शय्यंभवस्वामी के दीक्षा ले लेने के बाद उनकी सगर्भा स्त्री से उत्पन्न पुत्र जिसने आठ वर्ष की आयु में दीक्षा ली और छः महिना संयम पालन करके स्वर्ग को प्राप्त किया।

पहले अध्ययन में - धर्म प्रशंसा और माधुकरी वृत्ति का स्वरूप। दूसरे अध्ययन में - संयम में अधृति न रखने का और रहनेमि के दृष्टान्त से वान्तभोगों को छोड़ने का उपदेश। तीसरे अध्ययन में - अनाचारों को न आचरने का उपदेश। चौथे अध्ययन में - षड्जीवनिकाय की जयणा, रात्रिभोजनविरमण सहित पंचमहाव्रत पालन करने का और जीवदया से उत्तरोत्तर फल मिलने का उपदेश। पांचवें अध्ययन में - गोचरी जाने की विधि, भिक्षाग्रहण में कल्पाऽकल्प विभाग और सदोष आहार आदि के लेने का निषेध। छट्ठे अध्ययन में - राजा, प्रधान, कोतवाल, ब्राह्मण, क्षत्रिय, सेठ, साहुकार आदि के पूछने पर साध्वाचार की प्ररूपणा, अठारह स्थानों के सेवन से साधुत्व की भ्रष्टता और साध्वाचार पालन का फल। सातवें अध्ययन में - सावद्य निर्वद्य भाषा का स्वरूप सावद्य भाषाओं के छोड़ने का उपदेश, निर्वद्य भाषा के आचरण का फल और वाक् शुद्धि रखने की आवश्यकता। आठवें अध्ययन में - साधुओं का आचार विचार, षट्कायिक जीवों की रक्षा धर्म का उपाय, कषायों को जीतने का तरीका, गुरु की आशातना न करने का उपदेश, निर्वद्य-भाषण और साध्वाचार पालन का फल। नौवें अध्ययन में - अबहुश्रुत (न्यूनगुणवाले) आचार्य की भी आशातना न करने का उपदेश, और विनयसमाधि, श्रुतसमाधि स्थानों का स्वरूप। दशवें अध्ययन में - तथारूप साधु का स्वरूप और भिक्षुभाव का फल दिखालाया गया है।

इनके अलावा दशवैकालिक सूत्र में दो चूलिकाएँ भी हैं; जो कि भगवान् श्रीसीमन्धर स्वामी से उपलब्ध हुई हैं ऐसा टीकाकार और निर्युक्तिकारों का कथन है। पहली चूलिका में - आत्मा को संयम में स्थिर रखने के लिये अठारह स्थानों से संसार की विचित्रता का वर्णन और साधु धर्म की उत्तमंता का वर्णन किया गया है और दूसरी चूलिका में - आसक्ति रहित विहार का स्वरूप, अनियतवास रूप चर्या के गुण तथा साधुओं का उपदेश, विहार, काल, आदि दिखलाया गया है।

इस सूत्र के ऊपर श्री हरिभद्राचार्यकृत - शिष्यबोधिनी, नामक बड़ी टीका व अवचूरी, समयसुन्दरकृत - शब्दार्थवृत्ति नामक दीपिका आदि संस्कृत टीकाएँ भी बनी हुई हैं। संस्कृत टीकाओं के सिवाय अनेक टब्बा और भाषान्तर भी उपलब्ध हैं परंतु वे सभी प्राचीन अर्वाचीन गुजराती-भाषा में हैं; इसलिए वे गुजराती भाषा जाननेवाले साधु साध्वियों के लिए ही उपयोगी हो सकते हैं, दूसरों के लिये नहीं।

इस त्रुटी को पूर्ण करने के लिए अब तक दशवैकालिक सूत्र का ऐसा कोई हिन्दी अनुवाद किसी की तरफ से प्रकाशित नहीं हुआ, जो सर्व-साधारण को समझने में और अध्ययन करने में सुगम, सरस तथा उपयुक्त हो। प्रस्तुत (अध्ययन-चतुष्टय नामक) पुस्तक में श्री दशवैकालिक सूत्र के आदिम 'दुमपुप्फिया १, सामणपुव्विया २, खुल्लयायारकहा ३, छज्जीवणिया ४, इन चार अध्ययनों का

मूल, उनका शब्दार्थ और भावार्थ सुगम हिन्दी-भाषा में दर्ज किया है; जो कि संस्कृत-टीका और टब्बा आदि के आधार से इतना सरल बना दिया गया है कि अभ्यास करनेवाले साधु साध्वियों को इनका रहस्य समझ लेने में तनिक भी संदिग्धता नहीं रह सकती।

यह सूत्र साध्वाचार मूलक है, अतएव साधु साध्वियों को इसका अभ्यास कर लेना आवश्यक है। क्योंकि-समस्त गच्छों की मर्यादा के अनुसार इस ग्रन्थ का अभ्यास किये बिना साधु साध्वी बड़ी दीक्षा के योग्य नहीं समझे जाते। अस्तु,

यदि इस अनुवाद को साधु साध्वियों ने अपनाया तो आगे के अध्ययनों का भी अनुवाद इसी प्रकार तैयार करके यथावकाश प्रकाशित करने का उद्योग किया जायगा। अन्त में भूल चूक का मिच्छा मि दुक्कडं देकर विराम लिया जाता है। इति शम्।

(आचार्यदेव श्री यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.)

वसंतपंचमी राजगढ (मालवा)

❋ ❋ ❋

"विशेष"

पूज्यपाद आचार्य देव श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की भावनानुसार दूसरे छह अध्ययन एवं दो चूलिका के शब्दार्थ, भावार्थ तैयार कर मुनिभगवंतों के करकमलों में समर्पित किया है। पं. श्री भद्रंकर विजयजी कृत संस्कृत छाया एवं श्री हेमप्रभसूरिजी द्वारा संपादित एवं मुनि नथमलजी द्वारा संपादित श्री दशवैकालिक सूत्र के शब्दार्थ भावार्थ का सहयोग लिया है अतः उनका हार्दिक आभार मानता हूँ।

जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ लिखा गया हो तो मिच्छा मि दुक्कडं।

– जयानंद

श्री-श्रुतकेवलि-श्री-शय्यम्भवसूरीश्वर-विरचितम्-

श्री दशवैकालिक सूत्रम्

[सार्थ]

१ द्रुमपुष्पिका-अध्ययनम्

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो,।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ।।१।।

सं.छा.: **धर्म्मो मङ्गलमुत्कृष्टं, अहिंसा संयमस्तपः।**
देवा अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः।।१।।

शब्दार्थ - (अहिंसा) जीवदया (संजमो) संयत (तवो) तप रूप (धम्मो) सर्वज्ञभाषित धर्म (मंगलं) सर्व मंगल में (उक्किठं) उत्कृष्ट मंगल है (जस्स) जिस पुरुष का (मणो) मन (सया) निरन्तर (धम्मे) धर्म में लगा रहता है (तं) उसको (देवा वि) इन्द्र आदि देवता भी (नमंसंति) नमस्कार करते हैं।

-दया, संयम और तप रूप जिनेश्वर-प्ररूपित धर्म सभी मंगलों में उत्कृष्ट मंगल है। जो पुरुष धर्माराधन में लगे रहते हैं, उनको भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक इन चार निकाय के इन्द्रादि देवता भी वन्दन करते हैं।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह इन पांच आश्रवों का त्याग करना, पांचों इन्द्रियों का निग्रह करना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों को जीतना और मन, वचन, काया इन तीन दंडों को अशुभ व्यापारों में न लगाना; ये सतरह प्रकार का संयम है और अनशन[१], ऊनोदरिका[२], वृत्तिसंक्षेप[३], रसत्याग[४], कायक्लेश[५], संलीनता[६], प्रायश्चित्त[७], विनय[८], वैयावृत्य[९], स्वाध्याय[१०], ध्यान[११], कायोत्सर्ग[१२]; यह बारह प्रकार का तप है।

जहा दुम्मस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो अ पीणेइ अप्पयं ।।२।।
एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया।।३।।

सं.छा.: **यथा द्रुमस्य पुष्पेषु, भ्रमर आपिबति रसम्।**
न च पुष्पं क्लमयति, स च प्रीणयत्यात्मानम् ।।२।।

---

१ आहार को छोड़ना, २ छोटा कवल लेना, ३ धीरे-धीरे आहार आदि को घटाना, ४ विगइ को छोड़ना, ५ लोच, आतापना आदि करना, ६ पांचों इन्द्रियों को वश में रखना, ७ पापों की आलोयणा लेना, ८ निष्कपटरूप से अभ्युत्थान आदि वर्ताव रखना, ९ गुरु आदि की सेवा करना, १० पढ़े हुए ग्रन्थों का पुनरावर्तन करना या सूत्रों को वांचना, ११ पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि अवस्थाओं का चिन्तन करना, १२ नियमित समय के लिए काया को वोसिराना (शरीर की मूर्च्छा उतार देना)।

एवमेते श्रमणा मुक्ता, ये लोके सन्ति साधवः।
विहङ्गमा इव पुष्पेषु, दानभक्तैषणे रताः ।।३।।

शब्दार्थ - (जहा) जिस प्रकार (भमरो) भँवरा (दुम्मस्स) वृक्ष के (पुप्फेसु) फूलों के (रसं) रस को (आवियइ) थोड़ा पीता है (य) परन्तु (पुप्फं) फूल को (किलामेइ) पीड़ा (न) नहीं देता (य) और (सो) वह भँवरा (अप्पयं) अपनी आत्मा को (पीणेइ) तृप्त कर लेता है। (एमेए) इसी प्रकार (मुत्ता) बाह्याभ्यन्तर[१] परिग्रह रहित (जे) जो (लोए) ढाई द्वीप-समुद्र प्रमाण मनुष्य क्षेत्र में विचरने वाले (समणा) महान् तपस्वी (साहुणो) साधु (संति) है, वे (पुप्फेसु) फूलों में (विहंगमा) भँवरा के (व) समान (दाणभत्तेसणे) गृहस्थों से दिये हुए आहार आदि की गवेषणा में (रया) रक्त हैं।

-जिस प्रकार भँवरा वृक्षों के फूलों का थोड़ा-थोड़ा रस पीकर अपनी आत्मा को तृप्त कर लेता है, लेकिन फूलों को किसी तरह की तकलीफ नहीं देता। इस प्रकार ढाई[२] द्वीप समुद्र प्रमाण मनुष्य-क्षेत्र में विचरने वाले परिग्रह के त्यागी-तपस्वी-साधु, गृहस्थों के घरों से थोड़ा-थोड़ा आहार आदि ग्रहणकर अपनी आत्मा को तृप्त कर लेते हैं, परन्तु किसी को तकलीफ नहीं पहुंचाते। उक्त दृष्टान्त में विशेष यह है कि-भँवरा तो बिना दिये हुए ही सचित्त फूलों के रस को पीकर तृप्त होता है परन्तु साधु तो गृहस्थों के दिये हुए, अचित्त और निर्दोष आहार आदि को लेकर अपनी आत्मा को तृप्त करते हैं अतः भौरे से भी अधिक साधुओं में इतनी विशेषता है। यहाँ वृक्ष-पुष्प के समान गृहस्थों को और भौरे के समान साधुओं को समझना चाहिए।

वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा।।४।।

सं.छा.: वयं च वृत्तिं लप्स्यामहे, न च कोऽप्युपहनिष्यते।
यथाकृतेषु रीयन्ते, पुष्पेषु भ्रमरा यथा ।।४।।

शब्दार्थ - (वयं) हम (वित्तिं) ऐसे आहार आदि (लब्भामो) ग्रहण करेंगे, जिनमें (कोई) कोई भी जीव (न य) नहीं (उवहम्मइ) मारा जाय, (जहा) जैसे (पुप्फेसु) फूलों में (भमरा) भँवरों का गमन होता है, वैसे ही (अहागडेसु) गृहस्थों ने खुद के निमित्त बनाये हुए आहार आदि को ग्रहण करने में भी (रीयंते) साधु ईर्या समिति पूर्वक गमन करते हैं।

'हम ऐसे आहार वगैरह ग्रहण करेंगे जिनमें स्थावर या त्रस जीवों में से किसी तरह के जीवों की हिंसा न हो' ऐसी प्रतिज्ञा करके साधुओं को भ्रमर के समान, गृहस्थों

---

१ धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, रूप्य, सुवर्ण, कूप्य, द्विपद, चतुष्पद, यह नौ प्रकार का बाह्य और मिथ्यात्व, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ; यह चौदह प्रकार का अभ्यंतर परिग्रह है।

२. जम्बुद्वीप, लवणसमुद्र, धातकी खंड, कालोदधि समुद्र और पुष्करद्वीप का आधा भाग इन ढाई द्वीप समुद्र प्रमाण क्षेत्र को 'मनुष्य क्षेत्र' कहते हैं।

ने जो खुद के निमित्त बनाया हुआ है उस आहार आदि में से थोड़ा थोड़ा ग्रहण करना चाहिए। जो आहार आदि साधु के निमित्त बनाये या लाये गये हैं, वे साधुओं के लेने लायक नहीं, किन्तु छोड़ देने लायक हैं।

महुगारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो त्ति बेमि ।।५।।

सं.छा.: मधुकरसमा बुद्धा, ये भवन्ति अनिश्रिताः।
नानापिण्डरता दान्ताः, तेनोच्यन्ते साधव इति ब्रवीमि ।।५।।

शब्दार्थ - (महुगारसमा) भँवरे के समान (नाणापिंडरया) गृहस्थों के घरों से नाना प्रकार के निर्दोष शुद्ध आहार आदि के ग्रहण करने में रक्त, (बुद्धा) जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों के जाननेवाले (अणिस्सिया) कुल वगैरह के प्रतिबन्ध से रहित (दंता) इन्द्रियों को वश में रखनेवाले (जे) जो पुरुष (भवंति) होते हैं (तेण) पूर्वोक्त से वे (साहुणो) साधु (वुच्चंति) कहे जाते हैं (त्ति) ऐसा मैं (बेमि) अपनी बुद्धि से नहीं, किन्तु तीर्थंकरादि के *उपदेश से कहता हूँ ।।५।।*

भ्रमर के समान गृहस्थों के प्रति घर से थोड़ा-थोड़ा निर्दोष प्रासुक आहारादि लेनेवाले, धर्म, अधर्म या जीव, अजीवादि तत्त्वों को जाननेवाले, अमुक कुल की ही गोचरी लेना ऐसे प्रतिबन्ध रुकावट से रहित और जितेन्द्रिय जो पुरुष होते हैं, वे **'साधु'** कहलाते हैं।

श्री शय्यंभवाचार्य अपने दीक्षित पुत्र 'मनक' को कहते हैं कि - हे मनक! ऐसा मैं अपनी बुद्धि से नहीं, किन्तु तीर्थंकर, गणधर आदि महर्षियों के उपदेश से कहता हूँ।

।। इति प्रथमं द्रुमपुष्पिकाध्ययनं समाप्तम् ।।

२ श्रामण्यपूर्वक-अध्ययनम्

संबन्ध - पहिले अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय धर्म प्रशंसा है, साधुओं की सभी दिनचर्या धर्म-मूलक है। वह जिनेन्द्र-शासन सिवाय अन्यत्र नहीं पायी जाती। अतएव जिनेन्द्रशासन में नव-दीक्षित साधुओं को संयम पालन करते हुए नाना उपसर्गों के आने पर धैर्य रखना चाहिए, लेकिन घबराकर संयम में शिथिल नहीं होना चाहिए। इससे सम्बन्धित आये हुए दूसरे अध्ययन में संयम को धैर्य से पालने का उपदेश दिया जाता है-

''साधु धर्म का पालन कौन नहीं कर सकता?''

कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीअंतो, संकप्पस्स वसं गओ ।।१।।

सं.छा.: कथं नु कुर्यात् श्रामण्यं, यः कामान्न निवारयति।
पदे पदे विषीदन्, सङ्कल्पस्य वशंगतः।।१।।

शब्दार्थ - (जो) जो साधु (कामे) काम भोगों का (न) नहीं (निवारए) त्याग करता है, वह (पए पए) स्थान-स्थान पर (विसीयंतो) दुःखी होता हुआ (संकप्पस्स) खोटे मानसिक विचारों के (वसंगओ) वश होता हुआ (सामण्णं) चारित्र को (कहं) किस प्रकार (कुज्जा) पालन करेगा? (नु) किसी प्रकार पालन नहीं कर सकता।

- जो साधु विषयभोगों का त्याग नहीं करता, वह जगह-जगह दुःख देखता हुआ, और खोटे परिणामों के वश होता हुआ साधुवेश का किसी तरह पालन नहीं कर सकता।

''साधु कब कहा जाता है?''

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ।।२।।

सं.छा.: वस्त्रगन्धालङ्कारान् स्त्रियः शयनानि च।
अच्छन्दान् ये न भुञ्जते, नासौ त्यागीत्युच्यते ।।२।।

शब्दार्थ - (जे) जो पुरुष (अच्छंदा) अपने आधीन नहीं ऐसे (वत्थगंधं) वस्त्र, गंध (अलंकारं) अलंकार (इत्थीओ) स्त्रियाँ (य) और (सयणाणि) शयन, आसन आदि को (न) नहीं (भुंजंति) सेवन करते (से) वे पुरुष (चाइ त्ति) त्यागी (न) नहीं (वुच्चइ) कहे जाते।

- जो चीनांशुक आदि वस्त्र, चन्दन कल्क आदि गन्ध, मुकुट कुंडल आदि अलंकार, स्त्रियाँ, पल्यंक आदि शयन और आसन न मिलने पर उनका परिभोग नहीं करते वे त्यागी नहीं कहे जाते।

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ।।३।।

सं.छा.: यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठतः करोति।
स्वाधीनान् त्यजति भोगान्, स एव त्यागीत्युच्यते ।।३।।

शब्दार्थ - (जे य) जो पुरुष (कंते) मनोहर (पिए) प्रिय, इष्ट (लद्धे) मिले हुए (साहीणे) स्वाधीन (भोए) विषय-भोगों से (विपिट्ठिकुव्वइ) मुख फेर लेता है (य) और (चयइ) छोड़ देता है (से) वह (हु) निश्चय से (चाइ त्ति) त्यागी (वुच्चइ) कहा जाता है।

- विषय-भोगों को जो पुरुष छोड़ देता है, वही असली त्यागी कहा जाता है। यहाँ टीकाकार पूज्यपाद श्रीहरिभद्रसूरिजी महाराज फरमाते हैं कि -

'अत्थपरिहीणो वि संजमे ठिओ तिण्णि लोगसाराणि अग्गी उदगं महिलाओ य परिच्चयंतो चाइ त्ति।'

धन, वस्त्र आदि सामग्री से रहित (चारित्रवान्) पुरुष यदि लोक में सारभूत अग्नि, जल और स्त्री इन तीनों को सर्वथा छोड़ दे तो वह त्यागी कहा जाता है। क्योंकि

संसार में अपरिमित धनराशी मिलने पर भी अग्नि, जल और स्त्री का त्याग नहीं हो सकता; अतएव तीनों चीजों को छोड़नेवाला धनहीन पुरुष भी त्यागी ही है।

मन कैसे मारे?

समाइ पेहाइ परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरइ बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे,
इच्चेव ताओ विणइज्ज रागं ।।४।।

सं.छा.: समया प्रेक्षया परिव्रजतः, स्यान्मनो निःसरति बहिर्धा।
न सा मम नोऽप्यमपि तस्याः, इत्येव ततो व्यपनयेद्रागम् ।।४।।

शब्दार्थ - (समाइ) स्व पर को समान देखनेवाली (पेहाइ) दृष्टि से (परिव्वयंतो) संयम मार्ग में गमन करते हुए साधु का (मणो) मन (सिया) कदाचित् (बहिद्धा) संयमरूप घर से बाहर (निस्सरइ) निकले तो (सा) वह स्त्री (महं न) मेरी नहीं है (अहं पि) मैं भी (तीसे) उस स्त्री का (नो वि) नहीं हूँ (इच्चेव) इस प्रकार (ताओ) उन स्त्रियों के ऊपर से (रागं) प्रेमभाव को (विणइज्ज) दूर कर देवे।

- अपनी और दूसरों की आत्मा को समान देखनेवाली दृष्टि से संयमधर्म का पालन करनेवाले साधु का मन, पूर्व भुक्त-भोगों का स्मरण हो आने पर यदि संयमरूपी घर से बाहर निकले तो **'वह स्त्री मेरी नहीं है और मैं उस स्त्री का नहीं हूँ'** इत्यादि विचार करके स्त्री आदि मोहक वस्तुओं पर से अपने प्रेम-राग को हटा लेना चाहिए।

सुख कैसे मिले?

आयावयाही चय सोगमल्लं,
कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणइ(ए)ज्ज रागं,
एवं सुही होहिसि संपराए ।।५।।

सं.छा.: आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तमेव दुःखम्।
छिन्द्धि द्वेषं व्यपनय रागं, एवं, सुखी भविष्यसि सम्पराये ।।५।।

शब्दार्थ - (आयावयाही) आतापना ले (सोगमल्लं) सुकुमारपने को (चय) छोड़ (कामे) विषय वासना को (कमाही) उल्लंघनकर (खु) निश्चय से (दुक्खं) दुःख का (कमियं) नाश हुआ समझ (दोसं) द्वेष विकार को (छिंदाहि) नाशकर (रागं) प्रेमराग को (विणएज्ज) दूरकर (एवं) इस प्रकार से (संपराए) संसार में (सुही) सुखी (होहिसि) होयगा।

- भगवान् फरमाते हैं कि - साधुओं! यदि तुम्हें संसार के दुःखों से छूटकर

सुखी होने की इच्छा है तो आतापना[१] लो, सुकुमारता[२] को छोड़ो, विषयवासनाओं को चित्त से हटा दो, वैर, विरोध और प्रेमराग को जलांजली दो। यदि ऐसा करोगे तो अवश्य दुःखों का अन्त होगा और अनन्त सुख **मोक्ष** मिलेगा।

व्रत भंग से मरना अच्छा।

पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे ।।६।।

सं.छा.: प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं, धूमकेतुं दुरासदम्।
नेच्छन्ति वान्तं भोक्तुं, कुले जाता अगन्धने ।।६।।

शब्दार्थ - (अगंधणे) अगन्धन नामक (कुले) कुल में (जाया) उत्पन्न हुए सर्प (दुरासयं) मुश्किल से भी सहन न हो सके ऐसी (जलियं) जलती हुई (धूमकेउं) धुआँ वाली (जोइं) अग्नि का (पक्खंदे) आश्रय लेते हैं, परन्तु (वंतयं) उगले हुए विष को (भोत्तुं) पीने की (नेच्छंति) इच्छा नहीं करते हैं।

- सर्पों की दो जाति है - गन्धन और अगन्धन। गन्धन जाति के सर्प मंत्र, जड़ी, बूटी आदि से खींचे जाने पर खुद दंश मारे हुए स्थान से वान्त-विष को चूस लेते हैं और अगन्धन जाति के सर्प सेंकड़ों मंत्र आदि प्रयोगों से आकृष्ट होने पर भी खुद दंश लगाये हुए स्थान से वान्त-विष को फिर चूस लेना ठीक न समझकर, अग्नि में प्रवेश करना उत्तम समझते हैं।

इस दृष्टान्त से साधुओं को सोचना चाहिए कि- विवेक-विकल तिर्यंच विशेष सर्प भी जब अभिमान मात्र से अग्नि में जल मरना पसन्द करते हैं, परन्तु वमन किये हुए विष को पीना ठीक नहीं समझते। इसी तरह जिनप्रवचन के रहस्यों को जाननेवाले साधुओं से जिनका आखिरी परिणाम ठीक नहीं ऐसे अनन्त बार भोगकर वमन किये हुए भोग किस प्रकार सेवन किये जायँ?

रहनेमि के प्रति राजिमति का उपदेश -

बाईसवें तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ स्वामी ने राज्य आदि समस्त परिभोगों का त्याग करके दीक्षा ले ली। तब रहनेमि ने राजिमति की मधुरसंलापन, योग्यवस्तु प्रदान आदि से परिचर्या करना शुरु किया। इस गर्ज से कि यदि मैं राजिमति को हर तरह से प्रसन्न रक्खूंगा तो इससे मेरी भोगाभिलाषा पूर्ण होगी। राजिमति विषय विरक्त थी, उसके हृदय भवन में निरन्तर वैराग्य भावना निवास करती थी।

राजिमति को रहनेमि के दुष्ट अध्यवसाय का पता लग गया, उसने रहनेमि को समझाने की इच्छा से एक दिन शिखरिणी का पान किया। उसी अवसर पर रहनेमि राजिमति के साथ विषयालाप करने के लिए आया। राजिमति ने तत्काल मींडल क प्रयोग से वमन करके रहनेमि को कहा कि - इस वान्त शिखरिणी को तुम पी जाओ,

१ अत्यंत गर्म शिला या रेती में शयन करना, २ विविध तपस्याओं से शरीर की कोमलता को हटा देना।

रहनेमि ने कहा-भो सुलोचने! भला यह वान्त वस्तु कैसे पी जाय?

राजिमति ने कहा कि-यदि तुम वान्त वस्तु का पीना ठीक नहीं समझते तो भला भगवान् नेमिनाथस्वामी द्वारा वमन किये हुए मेरे शरीर के उपभोग की वांछा क्यों करते हो? इस प्रकार की दुष्ट अभिलाषा करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती? अतएव-

धिग(र)त्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ।।७।।

सं.छा.: धिगस्तु तेऽयशःकामिन्, यस्त्वं जीवितकारणात्।
वान्तमिच्छसि आपातुं, श्रेयस्ते मरणं भवेत् ।।७।।

शब्दार्थ - (अजसोकामी) अपयश की इच्छा रखने वाले हे रहनेमिन्! (ते) तेरे पुरुषपन को (धिरत्थु) धिक्कार हो (जो) जो (तं) तुं (जीवियकारणा) क्षणभंगुर जीवन के लिए (वंतं) वमन किये हुए पदार्थ को पीने की (इच्छसि) इच्छा करता है, इससे (ते) तेरे को (मरणं) मरना (सेयं) अच्छा (भवे) होगा।

- हे रहनेमि! तूं वान्तभोगों को भोगने की वांछा रखता है इससे तेरे को धिक्कार है, अतएव तेरे को मर जाना अच्छा है, लेकिन अपयश से तुझे जीना अच्छा नहीं है। कहा भी है कि-

'वरं हि मृत्युः सुविशुद्धकर्मणा, न चापि शीलस्खलितस्य जीवितम्' उत्तम कर्म करके मर जाना अच्छा है, परन्तु शील रहित पुरुष का जीना ठीक नहीं है। क्योंकि-शीलरहित जीवन से पग-पग पर दुःख और निन्दा का पात्र बनना पड़ता है।

राजिमति के उक्त वचनों से बोध पाकर रहनेमि ने भगवान् श्रीनेमिनाथस्वामी के पास दीक्षा ले ली। रहनेमि के दीक्षित होने के बाद राजिमति ने भी भगवान् के पास दीक्षा ली। एक बार रहनेमि द्वारिका नगरी से गोचरी लेकर भगवान् के पास जा रहा था, लेकिन रास्ते में बारिश का उपद्रव देखकर वह रेवताचल की किसी गुफा में बैठ गया-जो रास्ते के नजदीक थी। भाग्यवश राजिमति उसी अवसर में भगवान् नेमिनाथ स्वामी को वन्दनकर वापिस आ रही थीं, वह भी बारिश पड़ने के कारण उसी गुफा में आयी, जहाँ की रहनेमि ठहरा हुआ था।

रास्ते में बारिश से भीग जाने से साध्वी राजिमति ने अपने शरीर के सभी कपड़े गुफा में सुखा दिये। रहनेमि राजिमति के अंग प्रत्यंगों को देखकर कामातुर हुआ और लज्जा को छोड़ राजिमति से भोग करने की प्रार्थना करने लगा। राजिमति ने अपने अंगों को ढककर शिक्षा देते हुए कहा कि -

अहं च भोगरायस्स, तं च सि अंधगवण्हिणो।
मा कुले गंधणा होमो, संजमं निहुओ चर ।।८।।

सं.छा.: अहं च भोगराजस्य, त्वं चासि अन्धकवृष्णेः।

मा कुले गन्धनौ भूव, संयमं निभृतश्चर ।।८।।

शब्दार्थ - (अहं च) मैं (भोगरायस्स) उग्रसेन राजा की पुत्री हूँ (च) और (तं) तू (अंधगवण्हिणो) समुद्रविजय राजा का पुत्र (असि) है (कुले) अपने कुलों में (गंधण) हम दोनों को गन्धन जाति के सर्प समान (मा होमो) नहीं होना चाहिए (निहुओ) चित्त को स्थिर करके (संजमं) चारित्र को (चर) आचरण कर।

- भो रहनेमिन्! मैं राजा उग्रसेन की पुत्री हूं और तुम राजा समुद्रविजयजी के पुत्र हो। अपना विशाल और निष्कलंक कुल है। अतएव अपने को विषय भोग रूपी वान्त रस का पान करके गन्धन जाति के सर्पो के समान नहीं होना चाहिए। इसलिए तुम अपने चित्त को स्थिर रखकर निर्दोष चारित्र का पालन करो।

जइ तं काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ।।९।।

सं.छा.: यदि त्वं करिष्यसि भावं, या या द्रक्ष्यसि नारीः।
वाताविद्ध इव हडः, अस्थितात्मा भविष्यसि ।।९।।

शब्दार्थ - (जइ) यदि (तं) तुम (जा-जा) जिन-जिन (नारिओ) स्त्रियों को (दिच्छसि) देखोगे, और उनमें (भावं) रागभाव को (काहिसि) पैदा करोगे, तो (वाय विद्धु) वायु से प्रेरित (हडो व्व) हड़ नामक वनस्पति के समान (अट्ठिअप्पा) तुम्हारी आत्मा चल-विचल (भविस्ससि) होयगी।

-रहनेमिन्! जो तुम अनेक स्त्रियों को देखकर उनमें आसक्त होंगे तो वायु से प्रेरित हड़ नामक वनस्पति की तरह तुम्हारी आत्मा डावाँडोल रहेगी। अर्थात् जिस प्रकार हड़ नामक वनस्पति हवा के लगने से इधर-उधर भ्रमण करती है, उसी प्रकार तुम्हारी आत्मा विषयरूपी वायु से प्रेरित होकर संसार में भ्रमण करेगी।

तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाइ सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ।।१०।।

सं.छा.: तस्याः स वचनं श्रुत्वा, संयतायाः सुभाषितं।
अङ्कुशेन यथा नागो, धर्मे सम्प्रतिपादितः ।।१०।।

शब्दार्थ - (सो) वह रहनेमि (संजयाइ) साध्वी (तीसे) राजिमति के (सुभासियं) उत्तम (वयणं) वचनों (को सोच्चा) सुनकर (जहा) जैसे (नागो) हाथी (अंकुसेण) अंकुश से ठिकाने आता है, वैसे ही (धम्मे) संयम-धर्म में (संपडिवाइओ) स्थिर हो गया।

- साध्वी राजिमति के उत्तम वचनों को सुनकर, अंकुश से जैसे हाथी ठिकाने आता है वैसे ही रहनेमि संयम-धर्म में स्थिर हो गया।

रहनेमि ने राजिमति के उपदेश से भगवान् नेमनाथ स्वामी के पास आलोचना लेकर निर्दोष चारित्र पालन करना शुरू किया, जिसके प्रभाव से ज्ञानावरणीय आदि

पापकर्मों का नाशकर केवल ज्ञान प्राप्त किया, अन्त में वह अनन्त सुखराशि में लीन हुआ।

एवं करंति संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा।
विणिअट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसुत्तमो, ।।११।।त्ति बेमि।।

सं.छा.: एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः, पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्त्तन्ते भोगेभ्यो, यथाऽसौ पुरुषोत्तमः ।।इति ब्रवीमि।।११।।

शब्दार्थ - (एवं) पूर्वोक्त रीति से (संबुद्धा) बुद्धिमान् (पंडिया) वांतभोगो के सेवन से उत्पन्न दोषों को जाननेवाले (पवियक्खणा) पापकर्म से डरनेवाले पुरुष (करंति) आचरण करते हैं, और (भोगेसु) वान्त भोगों से (विणियट्टंति) अलग होते हैं (जहा) जैसे (से) वह (पुरिसोत्तमो) पुरुषो में उत्तम रहनेमि वान्तभोगों से अलग हुआ। (त्ति बेमि) ऐसा मैं मेरी बुद्धि से नहीं कहता हूँ, किन्तु महावीर स्वामी आदि के कथनानुसार कहता हूँ।

- जिस प्रकार पुरुषोत्तम रहनेमि ने अपनी आत्मा को वान्तभोगों से हटाकर संयम-धर्म में स्थापित किया और निर्वाणपद को प्राप्त किया उसी प्रकार जो साधु विषयभोगों की तरफ गये हुए चित्त को पीछे खींचकर संयम-धर्म में स्थिर करेंगे, तो उनको भी रहनेमि के समान परमपद प्राप्त होगा।

आशंका - अपने भाई की स्त्री के ऊपर विषयाभिलाषा से सराग दृष्टि रखनेवाले रहनेमि को सूत्रकार ने पुरुषोत्तम क्यों कहा?

इसका **समाधान** टीकाकार यों करते हैं कि-कर्मों की विचित्रता से रहनेमि को विषयाभिलाषा हुई परन्तु उसने दुष्ट पुरुषों के समान इच्छानुसार विषय भोग सेवन नहीं किया। प्रत्युत विषयाभिलाषा को रोककर रहनेमि ने अपनी आत्मा को संयम, धर्म में स्थिर की-इसीसे सूत्रकार ने रहनेमि को पुरुषोत्तम कहा है।

शय्यंभवाचार्य अपने पुत्र-शिष्य मनक को कहते हैं कि हे मनक! ऐसा मैं अपनी बुद्धि से नहीं कहता, किन्तु तीर्थंकर गणधर आदि के उपदेश से कहता हूँ।

।। इति श्रामण्यपूर्वकमध्ययनं द्वितीयं समाप्तम् ।।

❋ ❋ ❋

"महत्योऽपि हि किं वात्या कम्पयन्ति कुलाचलान्"
महावायु भी क्या पर्वतों को कम्पायमान कर सकता है?

३ क्षुल्लकाचार-अध्ययनम्

सम्बन्ध - दूसरे अध्ययन में प्रतिपाद्य विषय संयम में धैर्य सदाचार में ही रखना चाहिए, अनाचारों में नहीं। इस सम्बन्ध से आये हुए तीसरे अध्ययन में बावन अनाचारों का सामान्य स्वरूप और उनको छोड़ने का उपदेश दिखाया जाता है -

संजमे सुट्ठियप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं।
तेसिमेयमणाइण्णं, निग्गंथाणं महेसिणं ।।१।।

सं.छा.: संयमे सुस्थितात्मनां, विप्रमुक्तानां तायिनाम्।
तेषामिदमनाचीर्णं, निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम् ।।१।।

शब्दार्थ - (संजमे) सतरह प्रकार के संयम में (सुट्ठिअप्पाणं) अच्छी तरह आत्मा को स्थिर रखनेवाले (विप्पमुक्काणं) बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित (ताइणं) स्व पर रक्षक (निग्गंथाणं) बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थी से शून्य (तेसिं) उन (महेसिणं) साधुओं को (एवं) आगे कहे जानेवाले बावन अनाचार (अणाइण्णं) आचरण करने योग्य नहीं है।

- संयम धर्म का निर्दोष पालन करनेवाले, अपनी और दूसरों की आत्मा को तारनेवाले, द्रव्य-भाव रूपी गांठ और बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित महर्षियों साधुओं को आगे कहे जानेवाले बावन अनाचार छोड़ देने योग्य हैं।

''बावन अनाचार''

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे।।२।।

सं.छा.: औद्देशिकं क्रीतकृतं, नियागमभ्याहतानि च।
रात्रिभक्तं स्नानं च, गन्धमाल्यं च वीजनम् ।।२।।

शब्दार्थ - (उद्देसियं) साधुओं के उद्देश्य से बनाये गये आहार आदि लेना १, (कीयगडं) साधुओं के लिए खरीदकर लाये गये आहार आदि लेना २, (नियागं) निमंत्रण मिले हुए घरों से आहार आदि लेना ३, (अभिहडाणि) साधु को देने के लिए गृहस्थों ने स्व पर गाँव से मँगवाये हुए आहार आदि लेना ४, (राइभत्ते) दिवागृहित आदि रात्रिभोजन करना ५, (सिणाणे य) देशस्नान या सर्वस्नान करना ६, (गंधमल्ले) चूआ, चन्दन, इत्र आदि सुगंधित पदार्थ लगाना ७, पुष्पों की माला पहनना ८, (य) और (वीयणे) गर्मी हटाने के वास्ते ताड़, खजूर, पत्र, कागज, वस्त्र आदि के बने हुए पंखे रखना ९।।२।।

संनिहिगिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए।
संवाहणा दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ।।३।।

सं.छा.: सन्निधिर्गृहिमत्रं च, राजपिण्डः किमिच्छकः।
संवाहनं दन्तप्रधावनं च, सम्प्रश्नं देहप्रलोकनं च ।।३।।

शब्दार्थ - (संनिही) घी, गुड़, शक्कर, आदि को संग्रह करके रखना १०, (गिहिमत्ते य) भोजन आदि में गृहस्थों के भाजन-बर्तन काम में लेना ११, (रायपिंडे) राजा के दिये हुए आहार आदि लेना १२, (किमिच्छए) क्या चाहते हो ऐसा कहनेवाले के घर से या दानशाला आदि से आहार आदि लेना १३, (संवाहणं) हाड़, मांस, चाम, रोम आदि को सुख पहुंचाने वाले तेल आदि लगाना(अंगमर्दन, पगचंपी आदि करना) १४, (दंतपहोयणा य) दाँतों को धोकर साफ रखना १५, (संपुच्छणा) गृहस्थों को शाता पूछना या कुशल सबन्धी पत्र लिखना १६, (य) और (देहपलोयणा) काँच आदि में शरीर, मुख आदि की शोभा देखना १७॥३॥

अट्ठावए य नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए।
तेगिच्छं पाहणापाए, समारंभं च जोइणो ॥४॥

सं.छा.: अष्टापदं च नालीका, छत्रस्य च धारणानर्थाय।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः, समारम्भश्च ज्योतिषः॥४॥

शब्दार्थ - (अट्ठावए य) विलायती चोपड़ खेलना १८, (नालीए) गंजीफा, शतरंज वगैरह जूआ खेलना १९, (छत्तस्सय धारणट्ठाए) रोगादि महान् कारण बिना भी छाता आदि लगाना २०, (तेगिच्छं) ज्वरादि रोग नाशक जीविका करना २१, (पाहणा पाए) पैरों में जूता, बूट, मौजा आदि पहनना २२, (च) और (जोइणो समारंभं) अग्नि का आरंभ समारंभ करना २३॥४॥

सिज्जायरपिंडं च आसंदीपलियंकए।
गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणिय ॥५॥

सं.छा.: शय्यातरपिण्डश्च, आसन्दीकपर्यङ्कौ।
गृहान्तरनिषद्या च, गात्रस्योद्वर्त्तनानि च ॥५॥

शब्दार्थ - (सिज्जायरपिंडं च) उपाश्रय, धर्मशाला, मकान, आदि में उतरने की आज्ञा देनेवाले गृहस्थ के घर से आहार वगैरह लेना २४, (आसंदीपलियंकाए) चटाई, गादी, जाजम आदि पर बैठना २५, पलंग, खाट, मांची, डोली आदि पर बैठना २६, (गिहंतरनिसिज्जाए) दो घरों के बीच या उपाश्रय के बाहर दूसरों के घर में शयन करना २७, (य) और (गायस्सुवट्टणाणि) शरीर को कोमल या स्वच्छ बनाने के लिए पीठी आदि का उबटन करना २८ ॥५॥

गिहिणो वेआवडियं, जा य आजीववत्तिया।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥६॥

सं.छा.: गृहिणो वैयावृत्त्यं, या च, आजीववृत्तिता।
तप्तानिवृत्तभोजित्वं, आतुरस्मरणानि च ॥६॥

शब्दार्थ - (गिहिणो) गृहस्थों की (वेयावडियं) काम काज आदि सेवा करना २९, (जा य

आजीववत्तिया) और अपने जाति, कुल, शिल्प, कला आदि प्रकाशित करके आजीविका करना अर्थात् आहार आदि लेना ३०, (तत्तानिव्वुडभोइत्तं) तीन उकाले बिना का मिश्र जल पीना ३१, (य) और (आउरस्सरणाणि) मनोनुकूल भोजन न मिलने से गृहस्थावस्था में खाये हुए भोजन को याद करना, या रोगादि से पीड़ित लोगों को आश्रय देना ३२ ।।६।।

मूलए सिंगबेरे य, इ[उ]च्छुखंडे अनिव्वुडे।
कन्दे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ।।७।।

सं.छा.: मूलकः शृङ्गबेरं च, इक्षुखण्डमनिर्वृतम्।
कन्दो मूलं च सचित्तं, फलं बीजं च आमकम्।।७।।

शब्दार्थ - (अनिव्वुडे) बिना अचित्त किया हुआ (मूलए) मूला लेना ३३, (सिंगबेरे य) कच्चा-सचित्त अदरख लेना ३४, (उच्छुखंडे) सभी जाति की सेलड़ी या उसके छीले हुए टुकड़े लेना ३५, (सच्चित्ते) सचित्त (कंदे मूले य) सकरकंद, गाजर, आलू, गोभी आदि जमीकन्द लेना ३६, (आमए) सचित्त (फले) काकड़ी, आम, जामफल आदि फल लेना ३७, (य) और (बीए) तिल, ऊंबी, ज्वारं, चना, आदि सचित्त बीज ग्रहण करना ३८।।७।।

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए।।८।।

सं.छा.: सौवर्च्चलं सैन्धवं लवणं, रुमालवणं च आमकम्।
सामुद्रं पांशुखारश्च, कृष्णलवणं च आमकम्।।८।।

शब्दार्थ - (आमए) सचित्त (सोवच्चले) सैंचल नमक लेना ३९, (सिंधवे) सचित्त सेंधा नमक लेना ४०, (लोणे) सचित्त साँभर नमक लेना ४१, (रोमालोणे य) सचित्त रोमक नंमक लेना ४२, (सामुद्दे) सचित्त समुद्रीनमक लेना ४३, (पंसुखारे य) सचित्त पांशुक्षार लेना ४४, (आमए) सचित्त (कालालोणे य) कालानमक लेना ४५ ।।८।।

धुवणेत्ति वमणे य, वत्थीकम्मविरेयणे।
अंजणे दंतवण्णे(णे)य, गायाभंगविभूसणे।।९।।

सं.छा.: धूपनमिति वमनं च, बस्तिकर्म विरेचनम्।
अञ्जनं दन्तवर्ण्णश्च, गात्राऽभ्यङ्गविभूषणे।।९।।

शब्दार्थ - (धुवणेत्ति) वस्त्रों को धूप से तपाना, सुगन्धित करना, या रोग शान्ति के वास्ते धूम्रपान करना ४६, (वमणे य) मदनफल आदि औषधी से वमन करना ४७, (वत्थीकम्म) स्नेहगुटिका वगैरह की अधोद्वार में पिचकारी लगवाना ४८; (विरेयणे) बारंबार जुलाब लेना ४९, (अंजणे) निष्कारण नेत्रों में काजल, सुरमा आदि लगाना ५०, (दंतवणे य) निष्कारण दन्तमंजन, दाँतन वगैरह करना ५१, (गायाभंगविभूसणे)

निष्कारण तेल आदि लगाना या शोभा के निमित्त शरीर पर अलंकार पहनना ५२ ।।९।।

सव्वमेयमणाइण्णं, निग्गंथाणं महेसिणं।
संजमम्मि य जुत्ताणं, लहुभूयविहारिणं ।।१०।।

सं.छा.: सर्वमेतदनाचीर्णं, निर्ग्रन्थानां महर्षीणाम्।
संयमे च युक्तानां, लघुभूतविहारिणाम् ।।१०।।

शब्दार्थ - (निग्गंथाणं) द्रव्य-भाव रूप गांठ से रहित, (संजमम्मि) संयम-धर्म में (जुत्ताणं) उद्यमवान् (य) और (लहुभूयविहारिणं) वायु के समान अप्रतिबद्ध विहार करनेवाले (महेसिणं) साधुओं को (एयं) ऊपर कहे हुए (सव्वं) सभी अनाचार (अणाइण्णं) आचरण करने योग्य नहीं हैं ।

- संयम को पालन करनेवाले अप्रतिबद्ध विहारी निर्ग्रन्थ महर्षियों को ऊपर बतलाये हुए बावन अनाचार त्याग करने योग्य हैं।

ऋजु दर्शी कौन ?

पंचासवपरिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ।।११।।

सं.छा.: पञ्चाश्रवपरिज्ञाताः, त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः।
पञ्चनिग्रहणा धीरा, निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः ।।११।।

शब्दार्थ - (पंचासवपरिण्णाया) पांच आश्रवजन्य दोषों को जाननेवाले (तिगुत्ता) तीन गुप्तियों से गुप्त (छसु) षड्जीवनिकाय के प्रति (संजया) संयमशील (पंचनिग्गहणा) पांचों इन्द्रियों का निग्रह करनेवाले (धीरा) भयों से नहीं डरनेवाले (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ साधु (उज्जुदंसिणो) ऋजुदर्शी होते हैं।

-जीव हिंसा, झूठ बोलना, चोरी करना, मैथुन सेवना, परिग्रह रखना इन पांचों आश्रवों से उत्पन्न दोषों के जाननेवाले मनोगुप्ति[१] वचनगुप्ति[२] कायगुप्ति[३] इन तीनों गुप्तियों को पालनेवाले, स्पर्शन[४], रसन[५], घ्राण[६], चक्षु[७], श्रोत्र[८] इन पांचों इन्द्रियों को दमनेवाले, सात[९] भयों से नहीं डरनेवाले और निष्कपट भाव से सब जीवों को आत्मवत् देखनेवाले या केवल मोक्षमार्ग में ही रहनेवाले जो पुरुष होते हैं, वे निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं।

ऋतुकाल का वर्तन

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ।।१२।।

---

१ कषाय-विकारों में मन को न जाने देना, २ दोष रहित भाषा बोलना, ३ सपाप व्यापार शरीर से न करना, ४ शरीर, ५ जीभ, ६ नाक, ७ नेत्र, ८ कान, ९ इहलोक-मनुष्य को मनुष्य से होनेवाला i, परलोकभय-मनुष्य को तिर्यंच से होनेवाला ii, आदानभय-राजा से होनेवाला iii, अकस्मात् भय-बिजली आदि से होनेवाला iv, आजीविकाभय-दुकाल आदि से होनेवाला v, मरणभय vi, लोकापवाद भय vii

सं.छा.: आतापयन्ति ग्रीष्मेषु, हेमन्तेषु अप्रावृताः।
वर्षासु प्रतिसंलीनाः, संयताः सुसमाहिताः ।।१२।।

शब्दार्थ -(गिम्हेसु) गर्मी में (आयावयंति) आतापना लेते हैं (हेमंतेसु) सर्दी में (अवाउडा) उघाड़े शरीर से रहते हैं (वासासु) बारिश में (पडिसंलीणा) एक जगह रहकर संवरभाव में रहते हैं, वे साधु (संजया) संयम पालनेवाले, और (सुसमाहिया) ज्ञानादि गुणों की रक्षा करनेवाले हैं।

- वही साधु अपने संयमधर्म और ज्ञानादिगुणों की सुरक्षा कर सकते हैं, जो गर्मी में आतापना लेते, सर्दी में उघाड़े शरीर रहते, और बारिश में एक जगह मुकाम करके इन्द्रियों को अपने आधीन रखते हों।

महर्षियों का कर्तव्य

परीसहरिउदंता, धूअमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खप्पहा(ही)णट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ।।१३।।

सं.छा.: परीषहरिपुदान्ता, धूतमोहा जितेन्द्रियाः।
सर्वदुःखप्रहाणार्थं, प्रक्रमन्ते महर्षयः ।।१३।।

शब्दार्थ - (परीसहरिउदंता) परिषह रूपी शत्रुओं को जीतनेवाले (धूअमोहा) मोहकर्म को हटानेवाले (जिइंदिया) इन्द्रियों को जीतनेवाले (महेसिणो) साधुलोग (सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा) कर्मजन्य सभी दुःखों का नाश करने के लिए (पक्कमंति) उद्यम करते हैं।

कर्मजन्य दुःखों को निर्मूल (नाश) करने का उद्यम वे ही साधु-महर्षि कर सकते हैं, जो बाईस[1] परिषह रूपी शत्रुओं को, मोह और पांचों इन्द्रियों के तेईस[2] विषयों को जीतनेवाले हों।

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहेत्तु य।
केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया।।१४।।

सं.छा.: दुष्कराणि कृत्वा, दुस्सहानि सहित्वा च।
केऽप्यतो देवलोकेषु, केचित्सिद्ध्यन्ति नीरजस्काः ।।१४।।

शब्दार्थ - (दुक्कराइं) अनाचार त्याग रूपी अत्यन्त कठिन साध्वाचार को (करित्ताणं) पालन करके (य) और (दुस्सहाइं) मुश्किल से सहन होनेवाली आतापना आदि को

---

१ क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, अचेल, दंशमशक, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, दर्शन ये २२ परीषह हैं।

२ स्पर्शेन्द्रिय के शीत, उष्ण, रूक्ष, चीकना, खरदरा, कोमल, हल्का, भारी ये आठ; रसनेन्द्रिय के तीखा, कडुआ, कषायला, खट्टा, मीठा ये पांच; घ्राणेन्द्रिय के सुगंध, दुर्गंध ये दो; चक्षुरिन्द्रिय के श्वेत, नील, पीत, लाल, काला ये पांच; श्रोत्रेन्द्रिय के सचित्तशब्द, अचित्तशब्द, मिश्रशब्द ये तीन; ये सब मिलकर पांचों इन्द्रियों के २३ विषय हैं।

(सहेत्तु) सहन करके (अत्थ) इस संसार में (केइ) कितने ही साधु (देवलोएसु) देवलोकों में जाते हैं, (केइ) कितने ही साधु (नीरया) कर्मरज से रहित हो (सिज्झंति) सिद्ध होते हैं।

- साध्वाचार का पालन करके और आतापना को सहनकर कितने ही साधु देवलोकों में और कितने ही कर्मरज को हटाकर मोक्ष में जाते हैं।

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडे ।।१५।। त्ति बेमि ।।

सं.छा.: क्षपयित्वा पूर्वकर्म्माणि, संयमेन तपसा च।
सिद्धिमार्गमनुप्राप्ताः, तायिनः परिनिर्वृता (वान्ति) इति ब्रवीमि ।।१५।।

शब्दार्थ - (संजमेण) सतरह प्रकार के संयम से (य) और (तवेण य) बारह प्रकार के तप से (पुव्वकम्माइं) बाकी रहे पूर्व-कर्मों को (खवित्ता) क्षय करके (सिद्धिमग्गं) मोक्षमार्ग को (अणुप्पत्ता) प्राप्त होने वाले (ताइणो) स्व-पर को तारनेवाले साधु (परिनिव्वुडे) सिद्धिपद को प्राप्त होते हैं (त्ति) ऐसा (बेमि) मैं अपनी बुद्धि से नहीं, किन्तु तीर्थंकर आदि के उपदेश से कहता हूँ।

- जो साधु देव[1] लोक में पैदा हुए हैं, वे वहाँ से देवसंबन्धी भवस्थिति और देवभोगों का क्षय होने के बाद चव करके आर्य-कुलों[2] में उत्पन्न होते हैं। फिर वे दीक्षा लेकर संयम पालन और विविध तपस्याओं सेअवशिष्ट[3] कर्मों[4] को खपा करके मोक्ष चले जाते हैं।

आचार्य श्रीशय्यंभवस्वामी फरमाते हैं कि हे मनक! ऐसा मैं अपनी बुद्धि से नहीं, किन्तु तीर्थंकर गणधर आदि महर्षियों के उपदेश से कहता हूँ।

।। इति क्षुल्लकाचार कथा नामकमध्ययनं तृतीयं समाप्तम् ।।

❋ ❋ ❋

४ षड्जीवनिका नामकम् अध्ययनम्

सम्बन्ध - तीसरे अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय साध्वाचार का पालन और अनाचारों का त्याग करना है। सदाचारों का पालन-षड्जीवनिकाय का स्वरूप जानकर, उसकी रक्षा किये बिना नहीं होता। इस संबन्ध से आये हुए चौथे अध्ययन में षड्जीवनिकाय और उसकी जयणा रखने का स्वरूप दिखाया जाता है -

छ जीव निकाय की प्ररूपणा किसने की?

सुअं मे आउस्सं! तेणं भगवया एवमक्खायं,

---

१ सुधर्म, ईशान, आदि बारह स्वर्ग, सुदर्शन, सुप्रतिबद्ध आदि नव ग्रैवेयक और विजयादि पांच अनुत्तर
२ उत्तम, ३ बाकी रहे हुए, ४ भवोपग्राही

इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं
भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइआ सुअक्खाया
सुपण्णत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ।।१।।

सं.छा.: श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातं,
(एषा) इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता,
महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता
श्रेयो मे अध्येतुं अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ।।१।।

शब्दार्थ - (आउसंतेणं) हे आयुष्यमन्! जम्बू! (मे) मैंने (सुअं) सुना (भगवया) भगवान्[1] ने (एवं) इस प्रकार (अक्खायं) कहा, कि (इह) इस दशवैकालिक सूत्र में तथा जैनशासन में (खलु) निश्चय से (छज्जीवणिया णामज्झयणं) षड्जीवनिका नामक अध्ययन को (समणेणं) महातपस्वी (भगवया) भगवान् (कासवेणं) काश्यपगोत्री (महावीरेणं) महावीरस्वामी ने (पवेइया) केवलज्ञान से जानकर कहा (सुअक्खाया) बारह पर्षदा में बैठकर भली प्रकार से कहा (सुपण्णता) खुद आचरण करके कहा (मे) मेरी आत्मा को (अज्झयंणं) यह अध्ययन (अहिज्झिउं) अभ्यास करने के लिए (सेयं) हितकर, और (धम्मपणत्ती) धर्मप्रज्ञप्ति रूप है।

- पंचम गणधर श्रीसुधर्मास्वामी अपने मुख्य शिष्य जम्बूस्वामी को फरमाते हैं कि हे आयुष्मन्! यह षड्जीवनिका नामक अध्ययन काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीरस्वामी ने समवसरण में बैठकर बारह पर्षदा के सामने केवलज्ञान से समस्त वस्तुतत्त्व को अच्छी तरह देखकर प्ररूपण किया है। अतएव यह धर्मप्रज्ञप्ति रूप अध्ययन अभ्यास करने के लिए आत्म हित-कारक है।

शिष्य प्रश्न

कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं
भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेईआ सुअक्खाया
सुपण्णत्ता सेअं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती?।।२।।

सं.छा.: कतरा खलु सा षड्जीवनिकानामाध्ययनं, श्रमणेन भगवता
महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मे अध्येतुं
अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः? ।।२।।

शब्दार्थ - (कयरा) कौन-सा (खलु) निश्चय करके (सा) वह (छज्जीवणिया णामज्झयणं) षड्जीवनिका नामक अध्ययन, जो (कासवेणं) काश्यपगोत्रीय (समणेणं) श्रमण (भगवया) भगवान् (महावीरेणं) महावीरस्वामी ने (पवेइया) कहा (सुअक्खाया) खुद

१ संपूर्ण ऐश्वर्य, संपूर्ण रूपराशि, संपूर्ण यशः कीर्ति, संपूर्ण शोभा, संपूर्ण ज्ञान, संपूर्ण वैराग्य; इन छः वस्तुओं के धारक पुरुष को 'भगवान्' कहते हैं।

आचरण करके कहा (सुपण्णत्ता) बारह पर्षदा में भले प्रकार से कहा (मे) मेरी आत्मा को (अज्झयणं) वह अध्ययन (अहिज्झिउं) अभ्यास करने के लिए (सेयं) हितकारक, और (धम्मपन्नत्ती) धर्मप्रज्ञप्ति रूप है।

- जम्बूस्वामी[1] पूछते हैं कि हे भगवन्! अध्ययन करने के लिए आत्महितकारक और धर्मप्रज्ञप्ति रूप वह कौन-सा षड्जीवनिका अध्ययन है, जो काश्यपगोत्रीय श्रमण[2] भगवान् महावीरस्वामी ने केवलज्ञान से जानकर, स्वयं आचरण करके और देवादि-सभा में बैठकर प्ररूपण किया है?

छ जीवनिकाय का स्वरूप

इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं।
समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइआ सुअक्खाया
सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ॥३॥

सं.छा.: एषा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनम्। श्रमणेन भगवता
महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मे
अध्येतुं अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः ॥३॥

शब्दार्थ - (इमा) आगे कहा जानेवाला (सा) वह (छज्जीवणिया णामज्झयणं) षड्जीवनिका नामक अध्ययन जो (खलु) निश्चयकर (कासवेणं) काश्यपगोत्रीय (समणेणं) श्रमण (भगवया) भगवान् (महावीरेणं) श्रीमहावीरस्वामी ने (पवेइया) अलौकिक प्रभाव से कहा (सुअक्खाया) बारह पर्षदा में बैठकर कहा (सुपण्णत्ता) खुद आचरणकर भली प्रकार से कहा है। (अहिज्झिउं) अभ्यास करने के लिए (धम्मपणत्ती) धर्मप्रज्ञप्ति रूप (अज्झयणं) वह अध्ययन (मे) मेरी आत्मा को (सेयं) हितकारक है (तं जहा) वह इस प्रकार है -

- सुधर्मास्वामी[3] फरमाते हैं कि हे जम्बू! धर्मप्रज्ञप्ति रूप और आत्म-हितकर आगे कहा जानेवाला यह षड्जीवनिका नामक अध्ययन, जो काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् श्री महावीरस्वामी ने अलौकिक[4] प्रभाव से देख,

---

१ राजगृही नगरी के शेठ रिखभदत्त की स्त्री धारिणी के पुत्र, अन्तिम केवली, जिन्होंने निन्यानवे करोड़ सोनैया और नवपरिणीत आठ स्त्रियों को छोड़कर सोलहवर्ष की उम्र में ५२७ के परिवार से सुधर्मस्वामी के पास दीक्षा ली। और जो १६ वर्ष का गृहस्थ, २० वर्ष का छमस्थ, ४४ वर्ष का केवल पर्याय पूर्ण कर के वीरनिर्वाण के बाद ६४ वर्ष पश्चात् मोक्ष गये।

२ विविध प्रकार की तपस्या करनेवाले महान तपस्वी को 'श्रमण' कहते हैं।

३ कोल्लग गाँव के धम्मिल ब्राह्मण की स्त्री भद्दिला के पुत्र, भगवान् के ग्यारह गणधरों में से पांचवे गणधर, जिन्होंने ५०० विद्यार्थीओं के परिवार से अपापानगरी में वीरप्रभु के पास दीक्षा ली, और जो ५० वर्ष गृहस्थ, ४२ वर्ष चारित्र (छमस्थ) तथा ८ वर्ष केवली पर्याय पाल के वीरनिर्वाण से बीसवे वर्ष मोक्ष गये।

४ हाथ की हथेली पर रक्खी हुई वस्तु के समान लोकाऽलोकगत पदार्थों के सूक्ष्म बादर भावों को केवलज्ञान से देखनेवाले।

बारह[५] पर्षदा में बैठ और स्वय आचरण करके प्ररूपण किया है। वह इस प्रकार है-

तं जहा-पुढविकाइआ आउकाइआ तेउकाइआ,
वाउकाइआ वणस्सइकाइआ तसकाइआ।।४।।
पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा,
पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।।५।।
आउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा,
पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।।६।।
तेउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा,
पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।।७।।
वाउचित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा,
पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।।८।।
वणस्सइ चित्तमंतमक्खाया, अणेगजीवा।
पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।।९।।
तं जहा-अग्गबीआ, मूलबीआ, पोरबीआ, खंधबीआ
बीअरुहा, संमुच्छिमा तणलया, वणस्सइकाइआ
सबीआ चित्तमंत-मक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता
अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ।।१०।।

सं.छा.: तद्यथा-पृथिवीकायिका अप्कायिकास्तेजःकायिकाः,
वायुकायिका वनस्पतिकायिकास्त्रसकायिकाः।।४।।
पृथिवी चित्तवत्याख्याता, अनेकजीवा।
पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणतेन ।।५।।
आपश्चित्तवत्य आख्याता अनेकजीवा।
पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणतेन ।।६।।
तेजश्चित्तवदाख्यातं अनेकजीवा।
पृथक्सत्त्वमन्यत्र शस्त्रपरिणतेन ।।७।।
वायुश्चित्तवानाख्यातः, अनेकजीवा।
पृथक्सत्त्वः, अन्यत्र शस्त्रपरिणतेन ।।८।।
वनस्पतिश्चित्तवानाख्यातः अनेकजीवा।
पृथक्सत्त्वः, अन्यत्र शस्त्रपरिणतेन ।।९।।

---

५ अग्निकूण में गणधर आदि[१], विमानवासी देवियाँ[२], साध्वियाँ[३], नैऋतकूण में भवनपतिदेवियाँ[४], ज्योतिष्कदेवियां ५, व्यन्तरदेवियां ६, वायुकूण में भवनपतिदेव ७, ज्योतिष्कदेव ८, व्यन्तरदेव ९, ईशानकूण में वैमानिकदेव १०, मनुष्य ११, मनुष्यस्त्रियां १२; इन बारह प्रकार की पर्षदा में जिनेश्वर उपदेश देते हैं।

तद्यथा-अग्रबीजा मूलबीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजा बीजरुहाः सम्मूर्च्छिमास्तृणलता, वनस्पतिकायिकाः सबीजाश्चित्तवन्त आख्याता अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्रपरिणतेन ।।१०।।

शब्दार्थ - (पुढवीकाइया) पृथ्वी के जीव (आउकाइया) जल के जीव (तेउकाइया) अग्नि के जीव (वाउकाइया) हवा के जीव (वणस्सइकाइया) फल, फूल, पत्र, बीज, लता, कन्द आदि वनस्पति के जीव (तसकाइया) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव।

(सत्थपरिणएणं) शस्त्र-परिणत पृथ्वी को छोड़कर (अन्नत्थ) दूसरी (पुढवी) पृथ्वी (चित्तमंतं) जीव सहित (पुढोसत्ता) अंगुलाऽसंख्येय भाग प्रमाण अवगाहना में अलग-अलग (अणेगजीवा) अनेक जीववाली (अक्खाया) तीर्थंकरों के द्वारा कही गयी है। (सत्थपरिणएणं) शस्त्र-परिणत जल को छोड़कर (अन्नत्थ) दूसरा (आउ) जल (चित्तमंतं) जीव सहित (पुढोसत्ता) अंगुलाऽसंख्येय भाग प्रमाण अवगाहना में अलग-अलग (अणेगजीवा) अनेक जीववाला (अक्खाया) कहा गया है। (सत्थपरिणएणं) शस्त्र-परिणत अग्नि को छोड़कर (अन्नत्थ) दूसरा (तेउ) अग्नि (चित्तमंतं) जीव सहित (पुढोसत्ता) अंगुलाऽसंख्येय भाग प्रमाण अवगाहना में अलग-अलग (अणेगजीवा) अनेक जीववाली (अक्खाया) कही गयी है। (सत्थपरिणएणं) शस्त्र-परिणत वायु को छोड़कर (अन्नत्थ) दूसरा (वाउ) वायु (चित्तमंतं) जीव सहित (पुढोसत्ता) अंगुलाऽसंख्येय भाग प्रमाण अवगाहना में अलग-अलग (अणेगजीवा) अनेक जीववाला (अक्खाया) कहा गया है।

(सत्थपरिणएणं) शस्त्र-परिणत वनस्पति को छोड़कर (अन्नत्थ) दूसरी (वणस्सइ) वनस्पति (चित्तमंतं) जीव सहित (पुढोसत्ता) अंगुलाऽसंख्येय भाग प्रमाण अवगाहना में अलग-अलग (अणेगजीवा) अनेक जीववाली (अक्खाया) कही गयी है। (तं जहा) वह इस प्रकार है - (अग्गबीया) अग्रभाग में बीजवाली कोरंट आदि, (मूलबीया) मूल में बीजवाली जमीकन्द, कमल आदि (पोरबीया) गाँठ में बीजवाली साँटे आदि (खंधबीया) वृक्ष शाखा प्रशाखा में बीजवाली बड़ (बरगद) आदि (बीयरुहा) बीज के बोने से ऊगनेवाली शाल, गेहूं आदि (संमुच्छिमा) सूक्ष्म बीजवाली (तणलया) तृण, लता आदि (वणस्सइकाइया) वनस्पतिकायिक (सबीया) बीजों सहित (चित्तमंतं) सजीव (पुढोसत्ता) अंगुलाऽसंख्येय भाग प्रमाण अवगाहना में अलग-अलग (अणेगजीवा) अनेक जीवोंवाले (अक्खाया) कहे गये हैं (सत्थपरिणएणं) शस्त्र परिणत वनस्पति के बिना (अन्नत्थ) दूसरी सभी वनस्पति सचित्त है।

- सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवान् महावीरस्वामी ने पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, इन चारों स्थावरों में अंगुल की असंख्यातवें भाग की अवगाहना में अलग-अलग असंख्याता जीव और वनस्पतिकाय में असंख्याता तथा अनन्ता जीव प्ररूपण

किये हैं। जो शस्त्रों से परिणत हो चुके हैं उनमें एक भी जीव नहीं है, अर्थात् वे अचित्त (जीव रहित) हैं, ऐसा कहा है।

से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तं जहा अंडया पोयया जराउआ रसया संसेइमा, संमुच्छिमा उब्भिया उववाइआ जेसिं केसिं चि, पाणाणं अभिक्कंतं संकुचिअं पसारिअं, रुयं भंतं तसियं पलाइअं आगइगइविन्नाया।

सं.छा.: अथ ये पुनरमी अनेके बहवस्त्रसाः प्राणाः, तद्यथाअण्डजाः पोतजा जरायुजा रसजाः संस्वेदिमाः, सम्मूर्च्छिमा उद्भिज्जा औपपातिका येषां केषाञ्चित् प्राणिनां, अभिक्रान्तं प्रतिक्रान्तं सङ्कुचितं प्रसारितं रुतं भ्रान्तं त्रस्तं पलायितं, आगतिगतिविज्ञातारः।

शब्दार्थ - (से) अब (पुण) फिर (जे) जो (इमे) प्रत्यक्ष (अणेगे) द्वीन्द्रिय आदि भेदों में अनेक (बहवे) एक-एक जाति में नाना भेदवाले (तसापाणा) त्रस जीव हैं (तं जहा) वे इस प्रकार हैं - (अंडया) अंड से पैदा हुए पक्षी आदि (पोयया) पोत से पैदा हुए हाथी आदि (जराउया) गर्भ वेष्टन से पैदा हुए मनुष्य, गौ आदि (रसया) चलितरस से पैदा हुए जीव, (संसेइमा) पसीने में उत्पन्न जूं, लीख आदि (संमुच्छिमा) पुरुष-स्त्री के संयोग बिना पैदा हुए पतंग आदि (उब्भिया) भूमि को फोड़कर पैदा होनेवाले तीड़ आदि (उववाइया) देव, नारकी आदि (जेसिं) जिनमें (केसिं चि) कितने ही (पाणाणं) त्रसजीवों का (अभिक्कंतं) सामने आना (पडिक्कंतं) पीछे लौटना (संकुचियं) शरीर को संकुचित करना (पसारियं) शरीर को फैलाना (रुयं) बोलना (भंतं) भय से इधर-उधर भागना (तसियं) दुःखी होना (पलाइयं) भागना (आगइ) आना (गइ) जाना इत्यादि क्रियाओं को (विन्नाया) जानने का स्वभाव है।

- अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, संमूर्च्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिक ये सभी त्रस जीव हैं और ये सामने आना, पीछा फिरना, शरीर को संकोच करना, शरीर का फैलाना, शब्द करना, भय से त्रसित हो इधर-उधर घूमना। दुःखी होना, भागना, आना, जाना आदि क्रियाओं को जाननेवाले हैं।

जे अ कीडपयंगा, जा य कुंथुपिपीलिआ सव्वे बेइंदिया, सव्वे तेइंदिया, सव्वे चउरिंदिया, सव्वे पंचिंदिया, सव्वे तिरिक्खजोणिआ सव्वे नेरइआ, सव्वे मणुआ सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिआ। एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाउत्ति, पवुच्चइ ।।सू.१।।

सं.छा. : ये च कीटपतङ्गा, याश्च कुन्थुपिपीलिकाः, सर्वे द्वीन्द्रियाः सर्वे त्रीन्द्रियाः सर्वे चतुरिन्द्रियाः सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सर्वे तिर्यग्योनयः सर्वे

नैरयिकाः सर्वे मनुजाः सर्वे देवाः सर्वे प्राणिनः परमाधार्मिकाः,
एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकाय इति प्रोच्यते ।। (सू.१)

शब्दार्थ - (जे य) और जो (कीडपयंगा) कीट, पतंग आदि (जाय) और जो (कुंथुपिपीलया) कुन्थु, कीड़ी आदि (सव्वे बेइंदिया) सभी द्वीन्द्रिय जीव (सव्वे तेइंदिया) सभी त्रीन्द्रिय जीव (सव्वे चउरिंदिया) सभी चतुरिन्द्रिय जीव (सव्वे पंचिंदिया) सभी पंचेन्द्रिय जीव (सव्वे तिरिक्खजोणिया) सभी तिर्यंचयोनिक जीव (सव्वे नेरइया) सभी नारक जीव (सव्वे मणुआ) सभी मनुष्य (सव्वे देवा) सभी देवता (सव्वे पाणा) ये सभी प्राणी (परमाहम्मिया) परम सुख की इच्छा रखनेवाले हैं। (एसो) यह (खलु) निश्चय से (छट्ठो) छट्ठा (जीवनिकाओ) जीवों का समुदाय (तसकाउ त्ति) त्रसकाय इस नाम से (पवुच्चइ) कहा जाता है।

- द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन सभी जीवों का समुदाय 'त्रसकाय'[१] कहलाता है और ये सभी जीव सुखपूर्वक जीने की इच्छा रखते हैं, ऐसा जिनेश्वर भगवन्तों ने फरमाया है।

छ जीव निकाय की रक्षा हेतु प्रतिज्ञा

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं, समारंभिज्जा नेवेन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।। (सू.२)

सं.छा.: इत्येषां षण्णां जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं संमारभेत, नैवान्यैः दण्डं समारम्भयेत, दण्डं समारभमाणानपि अन्यान् न समनुजानीयाद्, यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि, न कारयामि, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामि।। (सू.२)

शब्दार्थ - (इच्चेसिं) ऊपर कहे हुए (छण्हं) छठवें (जीवनिकायाणं) त्रसकाय का (दंडं) संघट्टन, आतापन आदि हिंसा रूप दंड का (सयं) खुद (नेव समारंभिज्जा) आरंभ नहीं करे (अन्नेहिं) दूसरों के पास (दंडं) संघट्टन आदि (नेव समारंभाविज्जा) आरंभ नहीं करावे (दंडं) संघट्टन आदि (समारंभंते) आरंभ करते हुए (अन्ने वि) दूसरों को भी (न समणुजाणेज्जा) अच्छा नहीं समझे। ऐसा जिनेश्वरों ने कहा, इसलिए मैं (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदित रूप आरंभ को (मणेणं) मन (वायाए)

१ त्रस और स्थावर जीवों के विशेष भेद अस्मल्लिखित 'जीवभेद-निरूपण' नामक पुस्तक से देख लेना चाहिए।

वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेणं) तीन योग से (न करेमि) नहीं करता हूँ (न कारवेमि) न कराऊं (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरों को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते) हे भगवन्! (तस्स) भूतकाल में किये गये आरंभ का (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयण करता हूं (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूं (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा[1] करता हूं (अप्पाणं) पापकारी आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूं।

- जिनेश्वर फरमाते हैं कि साधु स्वयं त्रसकाय जीवों का संघट्टन आतापन आदि आरंभ नहीं करे, दूसरे से नहीं करावे और करनेवालों को अच्छा भी नहीं समझे। जीवन पर्यन्त साधु यह प्रतिज्ञा करे कि -

त्रसकाय का आरंभ मैं नहीं करूंगा, दूसरों से नहीं कराऊंगा और करनेवालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। और जो आरंभ हो चूका है उसकी आलोचना, निन्दा व गर्हा कर आरंभकारी आत्मा का त्याग करता हूं।

पढमे भंते! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा, तसं वा थावरं वा, नेव सयं पाणे अइवाइज्जा, नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि नं कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि पढमे. भंते! महव्वए उवट्ठिओमि, सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं ।।१।। (सू.३)

सं.छा.: प्रथमे भदन्त! महाव्रते प्राणातिपाताद्विरमणं सर्वं भदन्त! प्राणातिपातं प्रत्याख्यामि, तद्यथा-(अथ) सूक्ष्मं वा बादरं वा त्रसं वा स्थावरं वा नैव स्वयं प्राणिनोऽतिपातयामि नैवाऽन्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि प्राणिनः अतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हाम्यात्मानं, व्युत्सृजामि. प्रथमे भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वतः प्राणातिपाताद्विरमणम् ।।१।। (सू.३)

शब्दार्थ - भंते! गुरुवर्य! (पढमे) पहले (महव्वए) महाव्रत में (पाणाइवायाओ) एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा से (वेरमणं) दूर होना, भगवान् ने फरमाया है, अतएव

१ गर्हा - निन्दा, घृणा जुगुप्सा ओघनिर्युक्तिटीकायाम्

(भंते) हे गुरुवर! (सव्वं) समस्त (पाणाइवायं) जीवों की हिंसा करने का (पच्चक्खामि) प्रत्याख्यान लेता हूं।

(से) उन (सुहुमं वा[१]) सूक्ष्म (बायरं वा) बादर (तसं वा) त्रस (थावरं वा) स्थावर (पाणे) जीवों का (सयं) खुद (अइवाएज्जा) विनाश करे (नेव) नहीं (अन्नेहिं) दूसरों के पास (पाणे) त्रस स्थावर जीवों का (अइवायाविज्जा) विनाश करावे (नेव) नहीं (अइवायंते) त्रस स्थावर जीवों का विनाश करते हुए (अन्ने वि) दूसरों को भी (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं। ऐसा जिनेश्वरों ने कहा, इसलिए हे गुरुवर्य! (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त मैं (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदित रूप त्रिविध हिंसा को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेणं) त्रिविध योग से (न करेमि) नहीं करता हूं (न कारवेमि) नहीं कराऊं (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरे को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते) हे प्रभो! (तस्स) उस भूतकाल में की गयी हिंसा की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूं (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूं (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूं (अप्पाणं) हिंसाकारी आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूं (भंते) हे मुनीश! (पढमे) पहले (महव्वए) महाव्रत में (सव्वाओ) समस्त (पाणाइवायाओ) त्रस स्थावर प्राणियों की हिंसा से (वेरमणं) अलग होने के लिए (उवट्ठिओमि) उपस्थित हुआ हूं।

दूसरे महाव्रत की प्रतिज्ञा

अहावरे दोच्चे भंते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भंते! मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वइज्जा, नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि. दोच्चे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं ॥१॥ (सू.४)

सं.छा.: अथापरस्मिन् द्वितीये भदन्त! महाव्रते मृषावादाद्विरमणं सर्वं भदन्त! मृषावादं प्रत्याख्यामि. तद्यथा-क्रोधाद् वा लोभाद्वा भयाद्वा हास्याद्वा, नैव स्वयं मृषां वदामि, नैवाऽन्यैः मृषां वादयामि, मृषां वदतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा

---

१ यहाँ पर 'वा' शब्द तज्जातीय ग्रहण करने के वास्ते है। जैसे त्रसकाय में सूक्ष्म-छोटे शरीरवाले कुंन्थु आदि, बादर-मोटे शरीरवाले गो, महिष, हाथी आदि, और स्थावर जीवों में सूक्ष्म वनस्पति आदि, बादर पृथ्वी आदि, इसी प्रकार सूक्ष्म वनस्पति में भी सूक्ष्म, बादर और पृथ्वीआदि में भी सूक्ष्म, बादर की योजना स्वयं कर लेना चाहिए।

कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामि। द्वितीये भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वतो मृषावादाद्विरमणम् ॥२॥ (सू.४)

शब्दार्थ - (अह) इसके बाद (भंते!) हे मुनीन्द्र! (अवरे) आगे के (दोच्चे) दूसरे (महव्वए) महाव्रत में (मुसावायाओ) असत्य भाषा से (विरमणं) दूर रहना भगवान ने फरमाया है, अतएव (भंते) हे प्रभो! (सव्वं) समस्त (मुसावायं) असत्य भाषण का (पच्चक्खामि) प्रत्याख्यान करता हूं (से) वह (कोहा वा[1]) क्रोध से (लोहा वा) लोभ से (भया वा) भय से (हासा वा) हास्य से (सयं) खुद (मुसं) असत्य (वइज्जा) बोलें (नेव) नहीं (अन्नेहिं) दूसरों के पास (मुसं) असत्य (वायाविज्जा) बोलावे (नेव) नहीं (मुसं) असत्य (वयंते) बोलते हुए (अन्ने वि) दूसरों को भी (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा। इसलिए (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त, मैं (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदित रूप त्रिविध असत्य-भाषण को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेण) तीन योग से (न करेमि) नहीं करता हूं (न कारवेमि) नहीं कराऊं (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरे को भी (न समणुजाणामि) अच्छा समझूं नहीं (भंते!) हे गुरु! (तस्स) भूतकाल में बोले गये असत्य की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूं (निंदामि) आत्म-साक्षी से निन्दा करता हूं (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूं (अप्पाणं) असत्य बोलनेवाली आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूं (भंते) हे कृपानिधे! (दोच्चे) दूसरे (महव्वए) महाव्रत में (सव्वाओ) समस्त (मुसावायाओ) असत्य-भाषण से (वेरमणं) दूर रहने के लिए (उवट्ठिओमि) उपस्थित हुआ हूं।

तिसरे महाव्रत की प्रतिज्ञा

अहावरे तच्चे भंते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं. सव्वं भंते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि. से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि. जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न

---

१ यहाँ पर 'वा' शब्द एक-एक के तज्जातीय भेदों को ग्रहण करने के वास्ते है। जैसे-सद्भावप्रतिषेध-आत्मा, पुन्य, पाप, स्वर्ग, मोक्ष नहीं है ऐसा बोलना। असद्भावोद्भावन-आत्मा श्यामाकतंदुल प्रमाण या सर्वगत है ऐसी आगम विरूद्ध कल्पना करना ii अर्थान्तर-हाथी को अश्व और अश्व को हाथी कहना iii गर्हा-काणे को काणा, अन्धे को अन्धा कहना iv वे असत्य के चार भेद हैं। क्रोधादि चारों में इनकी योजना स्वयं कर लेना चाहिए।

समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि. तच्चे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ।।३।। (सू.५)

सं.छा.: अथापरस्मिंस्तृतीये भदन्त! महाव्रतेऽदत्तादानाद्विरमणं. सर्वं भदन्त! अदत्तादानं प्रत्याख्याम्यथ ग्रामे वा नगरे वाऽरण्ये वा अल्पं वा, बहु वा, अणु वा स्थूलं वा, चित्तवद्वाऽचित्तवद्वा नैव स्वयं अदत्तं गृह्णामि नैवान्यैरदत्तंग्राहयामि अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हाम्यात्मानं व्युत्सृजामि तृतीये भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वतोऽदत्तादानाद्विरमणम् ।।३।। (सू.५)

शब्दार्थ - (अह) इसके बाद (भंते) हे ज्ञाननिधे! (अवरे) आगे के (तच्चे) तिसरे (महव्वए) महाव्रत में (अदिन्नादाणाओ) चोरी से (वेरमणं) दूर होना जिनेश्वरों ने कहा है, अतएव (सव्वं) सभी प्रकार की (अदिन्ना दाणं) चोरी का (भंते) हे गुरु! (पच्चक्खामि) मैं प्रत्याख्यान करता हूं (से) वह (गामे वा[१]) गाँव में (नगरे वा) नगर में (रण्णे वा) जंगल में (अप्पं वा) अल्पमूल्यतृण आदि, (बहुं वा) बहुमूल्य स्वर्ण आदि, (अणुं वा) एरण्ड की पत्ती, काष्ट की चिरपट या तिनका आदि, (थूलं वा) सोना, चांदी, रत्न आदि (चित्तमंतं वा) सजीव बालक, बालिका आदि (अचित्तमंतं वा) अजीव वस्त्र, आभूषण आदि (अदिण्णं[२]) बिना दिये हुए (सयं) खुद (गिण्हिज्जा) ग्रहण करे (नेव) नहीं, (अन्नेहिं) दूसरों के पास (अदिण्णं) बिना दिये हुए (गिण्हंते) ग्रहण करते हुए (अन्ने वि) दूसरों को भी (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा। इसलिए (जावज्जीवाए) जीवन पर्यंत (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदन रूप त्रिविध अदत्तादान को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेण) तीन योग से (न करेमि) नहीं करता हूँ (न कारवेमि) नहीं कराऊं (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरों को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते) हे गुरु! (तस्स) भूतकाल में किये गये अदत्तादान की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूँ (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूँ (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ (अप्पाणं) अदत्त लेनेवाली आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूँ (भंते) हे प्रभो! (तच्चे) तीसरे (महव्वए) महाव्रत में (सव्वाओ) समस्त (अदिन्नादाणाओ) अदत्तादान से (वेरमणं)

१ 'वा' शब्द से गाँव, नगर और अल्पमूल्य, बहुमूल्य आदि वस्तुओं में तज्जातीय भेदों को ग्रहण करना चाहिए।

२ यहाँ अदिण्णं से, साधुयोग्य वस्तुओं को बिना दी हुई न लेना, यह मतलब है। स्वर्ण, रत्न आदि तो साधुओं के अग्राह्य ही हैं, जो आगे दिखाया जायगा।

अलग होने के लिए (उवट्ठिओमि) उपस्थित हुआ हूँ।

चतुर्थ महाव्रत की प्रतिज्ञा

अहावरे चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं, सव्वं भंते! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्खजोणिअं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि. चउत्थे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥४॥ (सू.६)

सं.छा.: अथापरे चतुर्थे भदन्त! महाव्रते मैथुनाद् विरमणं सर्वं भदन्त! मैथुनं प्रत्याख्याम्यथ दिव्यं (दैवं) वा मानुषं वा तिर्यग्योनिकं वा नैव स्वयं मैथुनं सेवे, नैवाऽन्यैः मैथुनं सेवयामि मैथुनं सेवमानानप्यन्यान्न समनुजानामि. यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हाम्यात्मानं व्युत्सृजामि, चतुर्थे भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वतो मैथुनाद्विरमणम् ॥४॥ (सू.६)

शब्दार्थ - (अह) इसके बाद (भंते) हे प्रभो! (अवरे) आगे के (चउत्थे) चौथे (महव्वए) महाव्रत में (मेहुणाओ) मैथुन सेवन से (वेरमणं) अलग होना जिनेश्वरों ने कहा है, अतएव (भंते) हे कृपानिधे! गुरु! (सव्वं) सभी प्रकार के (मेहुणं) मैथुन सेवन का (पच्चक्खामि) मैं प्रत्याख्यान करता हूँ, (से) वह (दिव्वं वा[1]) देव संबन्धी (माणुसं वा) मनुष्य संबन्धी (तिरिक्खजोणियं वा) तिर्यंच योनि संबंधी (मेहुणं) मैथुन (सयं) खुद (सेविज्जा) सेवन करे (नेव) नहीं, (अन्नेहिं) दूसरों के पास (मेहुणं) मैथुन (सेवाविज्जा) सेवन करावे (नेव) नहीं, (मेहुणं) मैथुन (सेवंते) सेवन करते हुए (अन्ने वि) दूसरों को भी (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा इसलिए (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदित रूप मैथुन सेवन को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेण) तीन योग से (न करेमि) नहीं करता हूँ (न कारवेमि) नहीं कराऊं (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरों को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते) हे ज्ञानसिन्धो! (तस्स) भूतकाल में किये गये मैथुन सेवन की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूँ (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूँ (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ,

१ 'वा' शब्द से देव, मनुष्य और तिर्यंचों के अवान्तर भेदों को भी स्वयं ग्रहण कर लेना चाहिए।

(अप्पाणं) मैथुनसेवी आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूँ (भंते!) हे प्रभो! (चउत्थे) चौथे (महव्वए) महाव्रत में (सव्वाओ) समस्त (मेहुणाओ) मैथुन सेवन से (वेरमणं) अलग होने को (उवट्ठिओमि) उपस्थित हुआ हूँ।

पंचम महाव्रत की प्रतिज्ञा

अहावरे पंचमे भंते महव्वए परिग्गहाओ, वेरमणं, सव्वं भंते परिग्गहं पच्चक्खामि. से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि. पंचमे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।।५।। (सू.७)

सं.छा.: अथापरे पञ्चमे भदन्त! महाव्रते परिग्रहाद् विरमणं. सर्वं भदन्त! परिग्रहं प्रत्याख्याम्यथाऽल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वाऽचित्तवन्तं वा नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि नैवाऽन्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि, तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हाम्यात्मानं व्युत्सृजामि. पञ्चमे भदन्त! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वतः परिग्रहाद्विरमणम् ।।५।। (सू.७)

शब्दार्थ - (अह) इसके बाद (भंते) हे गुरु! (अवरे) आगे के (पंचमें) पांचवे (महव्वए) महाव्रत में (परिग्गहाओ) नवविध परिग्रह से (वेरमणं) अलग होना जिनेश्वरों ने फरमाया है, अतएव (भंते!) हे कृपासागर! (सव्वं) समस्त (परिग्गहं) परिग्रह का (पच्चक्खामि) मैं प्रत्याख्यान करता हूँ (से) वह (अप्पं वा[१]) अल्पमूल्य एरंड-काष्ठ आदि (बहुं वा) बहुमूल्य रत्न आदि (अणुं वा) आकार से छोटे हीरा आदि (थूलं वा) आकार से बड़े हाथी आदि (चित्तमंतं वा) सजीव बालक बालिका आदि (अचित्तमंतं वा) निर्जीव वस्त्र आभरण आदि (परिग्गहं) परिग्रह (सयं) खुद (परिगिण्हिज्जा) ग्रहण करे (नेव) नहीं (अन्नेहिं) दूसरों के पास (परिग्गहं) परिग्रह (परिगिण्हाविज्जा) ग्रहण करावें (नेव) नहीं (परिग्गहं) परिग्रह (परिगिण्हंते) ग्रहण करते हुए (अन्ने वि) दूसरों को

१ 'वा' शब्द से एरंडकाष्ठ, रत्न, सचित्त, अचित्त आदि के अलग-अलग तज्जातीय-भेद भी ग्रहण करना चाहिए

भी (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा। इसलिए (जावज्जीवाए) जीवन पर्यंत (तिविहं) कृत कारित अनुमोदित रूप त्रिविध परिग्रह का ग्रहण (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेणं) तीन योग से (न करेमि) नहीं करता हूँ (न कारवेमि) कराऊं नहीं (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरे को भी (न समणुजाणामि) अच्छा समझूं नहीं (भंते!) हे प्रभो! (तस्स) भूतकाल में ग्रहण किये गये परिग्रह की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूँ (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करतां हूं (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ (अप्पाणं) परिग्रहग्राही आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूँ (भंते!) हे गुरो! (पंचमे) पांचवें (महव्वए) महाव्रत में (सव्वाओ) समस्त (परिग्गहाओ) परिग्रह से (वेरमणं) अलग होने को (उवट्ठिओमि) उपस्थित हुआ हूँ।

छट्ठे व्रत की प्रतिज्ञा

अहावरे छट्ठे भंते! वए राइभोयणाओ वेरमणं, सव्वं भंते! राइभोयणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राइं भुंजिज्जा, नेवऽन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि! छट्ठे भंते! वए उवट्ठिओमि, सव्वाओ राइभोयणाओ वेरमणं ।।६।। (सू.८)

सं.छा.: अथापरस्मिन् षष्ठे भदन्त! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणं सर्वं भदन्त! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि. तद्यथा-अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे नैवाऽन्यैः रात्रौ भोजयामि रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं, त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हाम्यात्मानं व्युत्सृजामि षष्ठे भदन्त! व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वतः रात्रिभोजनाद्विरमणम् ।।६।। (सू.८)

शब्दार्थ - (अह) इसके बाद! (भंते!) हे गुरु! (अवरे) आगे के (छट्ठे) छठवें (वए) व्रत में (राईभोयणाओ) रात्री-भोजन से (वेरमणं) अलग होना जिनश्वरों ने फरमाया है, अतएव (भंते!) हे प्रभो! (सव्वं) समस्त (राइभोयणं) रात्रि-भोजन का (पच्चक्खामि) मैं प्रत्याख्यान करता हूँ (से) वह (असणं वा[१]) पकाया हुआ अन्न आदि (पाणं वा)

१ 'वा' शब्द से अशन, पान, खादिम, स्वादिम के अवांतर तज्जातीय भेदों को भी ग्रहण करना चाहिए।

आचारांगसूत्रोक्त उत्सेदिम आदि जल (खाइमं वा) खजूर आदि (साइमं वा) इलायची, लोंग, चूर्ण आदि (सयं) खुद (राइं) रात्रि में (भुंजिज्जा) खावे (नेव) नहीं (अन्नेहिं) दूसरों को (राइं) रात्रि में (भुंजाविज्जा) खवावे (नेव) नहीं (राइं) रात्रि में (भुंजंते) खाते हुए (अन्ने वि) दूसरों को भी (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा। इसलिए (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविहं) कृत कारित अनुमोदित रूप त्रिविध रात्रि-भोजन को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेणं) तीन योग से (न करेमि) नहीं करता हूँ (न कारवेमि) नहीं कराऊं (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरों को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते!) हे भगवान्! (तस्स) भूतकाल में किये गये रात्रि-भोजन की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूँ (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूँ (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ (अप्पाणं) रात्रि-भोजन करनेवाली आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूँ (भंते!) हे प्रभो! (छट्ठे) छठवें (वए) व्रत में (सव्वाओ) समस्त (राइभोयणाओ) रात्रि भोजन से (वेरमणं) अलग होने को (उवट्ठिओमि) उपस्थित हुआ हूँ।

इच्चेइयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयण-वेरमण-छट्ठाइं।
अत्तहियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ।।सू.९।।

सं.छा.: इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रिभोजन-विरमणषष्ठानि।
आत्महितार्थमुपसम्पद्य विहरामि ।।सू.९।।

शब्दार्थ - (इच्चेयाइं) इत्यादि ऊपर कहे हुए (पंचमहव्वयाइं) पांच महाव्रतों (राइभोयणवेरमणछट्ठाइं) और छठवें रात्रि-भोजन विरमण व्रत को (अत्तहियट्ठयाए) आत्महित के लिए (उवसंपज्जित्ताणं) अंगीकार करके (विहरामि) संयमधर्म में विचरुं।

- श्रमण भगवान श्रीमहावीरस्वामी ने सभा के बीच में केवलज्ञान से समस्त वस्तु-तत्त्व को देखकर स्पष्ट रूप से कहा है कि साधु रात्रिभोजन सहित जीव हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह; इन पांच आश्रवों को दुर्गतिदायक जानकर स्वयं आचरण न करे, दूसरों से आचरण न करावे और आचरण करनेवाले दूसरों को भी अच्छा नहीं समझे। इस प्रकार रात्रिभोजन विरमण सहित पांच महाव्रतों को आत्म-कल्याण के वास्ते अंगीकार करके संयम धर्म में विचरे। ऐसा सुधर्मस्वामी ने जम्बूस्वामी से कहा।

जम्बूस्वामी प्रतिज्ञा करते हैं कि हे भगवन्! जिनेश्वरों की आज्ञा के अनुसार मैं रात्रिभोजन सहित पांचों आश्रवों का, तीन करण, तीन योग से त्याग करता हूँ और भूतकाल में आचरण किये गये आश्रवों की आलोयणा रूप आत्मसाक्षी से निंदा तथा गुरुसाक्षी से गर्हा और आश्रवसेवी आत्मा का त्याग करता हूँ। इस प्रकार रात्रिभोजन विरमण व्रत सहित पांच महाव्रतों को भले प्रकार स्वीकार करके संयमधर्म में विचरता हूँ।

इसी तरह प्रतिज्ञा और रात्रिभोजनविरमणव्रत-सहित पांचों महाव्रत जिनका

स्वरूप ऊपर दिखाया गया है उसे अंगीकार करके दूसरे साधु साध्वियों को भी संयमधर्म में सावधानी से विचरना चाहिए।

''जीवों की जयणा रखने का उपदेश''

पृथ्वीकाय की रक्षा -

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा संजयविरयपडिहय-
पच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा
परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा से पुढविं वा भित्तिं
वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं
हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा अंगुलिआए वा
सिलागाए वा सिलागहत्थेण वा न आलिहिज्जा न विलि-
हिज्जा न घट्टिज्जा न भिंदिज्जा अन्नं न आलिहाविज्जा न
विलिहाविज्जा न घट्टाविज्जा न भिंदाविज्जा अन्नं आलिहंतं
वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणामि
जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि
न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स्स भंत्ते!
पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।।१।।(सू.१०)

सं.छा.: स भिक्षुर्वा भिक्षुकीवा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा
वा रात्रौ वा एककी वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा स पृथिवीं वा
भित्तिं वा शिलां वा लोष्टं वा सरजस्कं वा कायं सरजस्कं वा वस्त्रं
हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा किलिञ्चेन वा अङ्गुल्या वा
शलाकया वा शलाकाहस्तेन वा नालिखेत् न विलिखेत् न घट्टयेत्
न भिन्द्यात्, अन्यंनालेखयेत् न विलेखयेत् न घट्टयेत्, न भेदयेदन्य-
मालिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानामि
यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न
कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि
निन्दामि गर्हाम्यात्मानं व्युत्सृजामि ।।१।। (सू.१०)

शब्दार्थ - (से) पूर्वोक्त पंचमहाव्रतों के धारक (संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे) संयम युक्त, विविध तपस्याओं में लगे हुए और प्रत्याख्यान से पापकर्मों को नष्ट करनेवाले (भिक्खू वा) साधु अथवा (भिक्खूणी वा) साध्वी (दिआ वा) दिवस में, अथवा (राओ वा) रात्रि में, अथवा (एगओ वा) अकेले, अथवा (परिसागओ वा) सभा में, अथवा (सुत्ते वा) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे) जागते हुए (वा) और भी कोई अवस्था में (से) पृथ्वीकायिक

जीवों की जयणा इस प्रकार करे कि (पुढविं वा[१]) खान की मिट्टी (भित्तिं वा) नदी तट की मिट्टी (सिलं वा) बड़ा पाषाण (लेलुं वा) पाषाण के टुकड़े (ससरक्खं वा कायं) सचित्त रज से युक्त शरीर (ससरक्खं वा वत्थं) सचित्त रज से युक्त वस्त्र, पात्र इत्यादि पृथ्वीकायिक जीवों को (हत्थेण वा) हाथों से अथवा (पाएण वा) पैरों से अथवा (कट्ठेण वा) काष्ठ से अथवा (किलिंचेण वा) काष्ठ के टुकड़ों से अथवा (अंगुलियाए वा) अंगुलियों से अथवा (सिलागाए वा) लोहा आदि के खींले से अथवा (सिलागहत्थेण) खीलों आदि के समूह से (वा) दूसरी और भी कोई तज्जातीय वस्तुओं से (न आलिहिज्जा) एक बार खणे नहीं (न विलिहिज्जा) अनेक बार खणे नहीं (न घट्टिज्जा) चल-विचल करे नहीं (न भिंदिज्जा) छेदन-भेदन करे नहीं (अन्नं) दूसरों के पास (न आलिहावेज्जा) एक बार खणावे नहीं (न विलिहावेज्जा) अनेक बार खणावे नहीं (न घट्टाविज्जा) चल-विचल करावे नहीं (न भिंदाविज्जा) छेदन-भेदन करावे नहीं (अन्नं) दूसरों को (आलिहंतं वा) एक बार खणते हुए अथवा (विलिहंतं वा) अनेक बार खणते हुए अथवा (घट्टंतं वा) चल विचल करते हुए अथवा (भिंदंतं वा) छेदन भेदन करते हुए (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं ऐसा भगवान ने कहा। अतएव (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदित रूप पृथ्वीकाय संबन्धी त्रिविध हिंसा को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेण) तीन योग से (न करेमि) नही करता हूँ, (न कारवेमि) नहीं कराऊं, (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरों को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते!) हे गुरु! (तस्स) भूतकाल में की गयी हिंसा की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूँ (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूँ (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ (अप्पाणं) पृथ्वीकाय की हिंसा करनेवाली आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूँ।

अप्काय की रक्षा :

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा संजय-विरयपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा, से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महिअं वा करगं वा हरितणुगं वा सुद्धोदगं वा उदउल्लं वा कायं उदउल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं न आमुसिज्जा न संफुसिज्जा, न आवीलिज्जा न पवीलिज्जा न अक्खोडिज्जा न पक्खोडिज्जा, न आयाविज्जा न पयाविज्जा अन्नं न आमुसाविज्जा न संफुसाविज्जा न आवीलाविज्जा न पवीलाविज्जा, न

---

१ 'वा' शब्द से खान आदि में तज्जातीय भेदों को भी ग्रहण करना। इसी तरह आगे के आलावाओं में भी अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के तज्जातीय भेदों को भी ग्रहण करना।

अक्खोडाविज्जा न पक्खोडाविज्जा, न आयाविज्जा न पयाविज्जा, अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा पक्खाडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा, न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।।२।। (सू.११)

सं.छा.: स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा स उदकं वा ऽवश्यायं वा हिमं वा महिकां वा करकां वा हरितनुकं वा शुद्धोदकं वा उदकार्द्रं कायमुदकार्द्रं वा वस्त्रं सस्निग्धं वा कायं सस्निग्धं वा वस्त्रं नामृशेन्न संस्पृशेन्नापीडयेन्न प्रपीडयेन् नास्फोटयेन्नातापयेन्न प्रतापयेदन्यं नामर्शयेन्न संस्पर्शयेन्नापीडयेन्न प्रपीडयेन्नास्फोटयेन् न प्रस्फोटयेन्नातापयेन्न प्रतापयेदन्यं आमृशन्तं वा संस्पृशन्तं वाऽऽपीडयन्तं वा प्रपीडयन्तं वाऽऽस्फोटयन्तं वाऽऽतापयन्तं वा प्रतापयंन्तं वा न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हाम्यात्मानं व्युत्सृजामि ।।२।। (सू.११)

शब्दार्थ - (से) पूर्वोक्त पंचमहाव्रतों के धारक (संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे) संयम युक्त, विविध तपस्याओं में लगे हुए और प्रत्याख्यान से पापकर्मों को नष्ट करनेवाले (भिक्खू वा) साधु अथवा (भिक्खूणी वा) साध्वी (दिआ वा) दिवस में, अथवा (राओ वा) रात्रि में, अथवा (एगओ वा) अकेले, अथवा (परिसागओ वा) सभा में; अथवा (सुत्ते वा) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे) जागते हुए (वा) और भी कोई अवस्था में (से) अप्कायिक जीवों की जयणा इस प्रकार करे कि (उदगं वा) वावडी, कुआ आदि के जल (ओस वा) ओस का जल (हिमं वा) बर्फ का जल (महियं वा) धूंअर का जल (करगं वा) ओरा का जल (हरितणुगं वा) वनस्पति पर रहे हुए जल के कण (सुद्धोदगं वा) बारीश का जल (उदउल्लं वा) जल से भींजी हुई काया (उदउल्लं वा वत्थं) जल से भींजे हुए वस्त्र आदि (ससणिद्धं वा कायं) जलबिन्दु रहित भींजी हुई काया (ससणिद्धं वा वत्थं) जलबिन्दु रहित भींजे हुए वस्त्र आदि अप्काय को (न आमुसेज्जा) पूंछे नहीं (न संफुसेज्जा) छूए नहीं (न आवीलिज्जा) एक बार पीड़ा देवे नहीं (न पविलिज्जा) बार-बार पीड़ा देवे नहीं (न अक्खोडिज्जा) एक बार झटके नहीं (न

पक्खोडिज्जा) बार-बार झटके नहीं (न आयाविज्जा) एक बार तपावे नहीं (न पयाविज्जा) बार-बार तपावे नहीं (अन्नं) दूसरों के पास (न आमुसाविज्जा) पूंछावे नहीं (न संफुसाविज्जा) छुआवे नहीं (न आवीलाविज्जा) एक बार पीड़ा दिलवाऐं नहीं (न पविलाविज्जा) बार-बार पीड़ा दिलवाऐं नहीं (न अक्खोडाविज्जा) एक बार झटकाऐं नहीं (न पक्खोडाविज्जा) बार-बार झडकाऐं नहीं (न आयाविज्जा)एक बार तपवाऐं नहीं (न पयाविज्जा) बार-बार तपवाऐं नहीं (अन्नं) दूसरों को (आमुसंतं वा) पूंछते हुए अथवा (संफुसंतं वा) छूते हुए अथवा (आवीलंतं वा) एक बार पीड़ा देते हुए अथवा (पवीलंतं वा) बार-बार पीड़ा देते हुए अथवा (अक्खोडंतं वा) एक बार झटकते हुए अथवा (पक्खोडंतं वा) बार-बार झटकते हुए अथवा (आयावंतं वा) एक बार तपाते हुए अथवा (पयावंतं वा) बार-बार तपाते हुए (न समणुजाणामि) अच्छा समझे नहीं ऐसा भगवान् ने कहा, अतएव मैं (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदित रूप अप्कायिक त्रिविध-हिंसा को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेण) तीन योग से (न करेमि) नहीं करूं, (न कारवेमि) नहीं कराऊं, (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरों को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते!) हे प्रभो! (तस्स) भूतकाल में की गयी हिंसा की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूँ (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूँ (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ (अप्पाणं) अप्काय की हिंसा करनेवाली आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूँ।

तेउकाय की रक्षा :

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा संजयविरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा न उंजेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा न उज्जालेज्जा न पज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदाविज्जा, न उज्जालाविज्जा न पज्जालाविज्जा न निव्वाविज्जा अन्नं उंजंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा उज्जालंतं वा पज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥३॥ (सू.१२)

सं.छा.: स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरत-प्रतिहतप्रत्याख्यात-पापकर्मा

दिवा वा रात्रौ वा, एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा सोऽग्निं वाऽङ्गारं वा मुर्मुरं वाऽर्चिर्वा ज्वालां वाऽलातं वा शुद्धाग्निं वोल्कां वा नोत्सिञ्चेन्न घट्टयेद्, न भिन्द्यान्नोज्ज्वालयेन्न प्रज्वालयेन्न निर्वापयेदन्यं नोत्सेचयेन्न घट्टयेन्न भेदयेन्नोज्वालयेन्न प्रज्वालयेन्न निर्वापयेदन्यं उत्सिञ्चन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वोज्ज्वालयन्तं वा प्रज्वालयन्तं वा निर्वापयन्तं वा न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हाम्यात्मानं व्युत्सृजामि ।।३।। (सू.१२)

शब्दार्थ - (से) पूर्वोक्त पंचमहाव्रतों के धारक (संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे) संयम युक्त, विविध तपस्याओं में लगे हुए और प्रत्याख्यान से पापकर्मों को नष्ट करनेवाले (भिक्खू वा) साधु अथवा (भिक्खूणी वा) साध्वी (दिआ वा) दिवस में, अथवा (राओ वा) रात्रि में, अथवा (एगओ वा) अकेले, अथवा (परिसागओ वा) सभा में, अथवा (सुत्ते वा) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे) जागते हुए (वा) दूसरी और भी कोई अवस्था में (से) अग्निकायिक जीवों की जयणा इस प्रकार करे कि (अगणिं वा) तपे हुए लोहे में स्थित अग्नि (इंगालं वा) अंगारों की अग्नि (मुम्मुरं वा) भोभर की अग्नि (अच्चिं वा) दीपक आदि की अग्नि (जालं वा) ज्वाला की अग्नि (अलायं वा) जलते हुए काष्ठ की अग्नि (सुद्धागणिं वा) काष्ठ रहित अग्नि (उक्कं वा) उल्कापात बिजली आदि अग्निकाय को (न उंजिज्जा) ईंधनादि से सींचे[1] नहीं (न घट्टेज्जा) चलविचल[2] करे नहीं (न भिंदेज्जा) छेदन-भेदन करे नहीं (न उज्जालेज्जा) एक बार पवन आदि से उजारे[3] नहीं (न पज्जालेज्जा) बार-बार पवन आदि से उजारे नहीं (न निव्वावेज्जा) बुझाए नहीं (अन्नं) दूसरों के पास (न उंजावेज्जा) ईंधनादि से सिंचाये नहीं (न घट्टावेज्जा) चलविचल कराए नहीं (न भिंदावेज्जा) छेदन[4] भेदन कराये नहीं (न उज्जालावेज्जा) एक बार उजरवाऐं नहीं (न पज्जालावेज्जा) बारंबार पवन आदि से उजरवाऐं नहीं (न निव्वाविज्जा) बुझवाये नहीं (अन्नं) दूसरों को (उंजंतं वा) ईंधनादिक से सींचते हुए अथवा (घट्टंतं वा) चलविचल करते हुए अथवा (भिंदंतं वा) छेदन-भेदन करते हुए अथवा (उज्जालंतं वा) पवन आदि से बार बार उजारते हुए अथवा (पज्जालंतं वा) पवन आदि से बार-बार उजारते हुए अथवा (निव्वावंतं वा) बुझाते हुए (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं ऐसा भगवान ने कहा। अतएव (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदित रूप अग्निकायिक त्रिविध हिंसा को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेण) तीन योग से (न करेमि) नही करता हूँ, (न

१ आग में लकड़ी वगेरह डाले नहीं। २ हिलाए नहीं। ३ वायु या फूंक देकर जलाए नहीं। ४ आग के बड़े खंडो तोड़कर छोटे-छोटे टुकड़े करे नहीं

कारवेमि) नहीं कराऊं, (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरों को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते!) हे गुरु! (तस्स) भूतकाल में की गयी हिंसा की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूँ (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूँ (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ (अप्पाणं) पृथ्वीकाय की हिंसा करनेवाली आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूँ।

वाउकाय की रक्षा :

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा संजयविरयपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा, से सिएण वा विहुयणे वा तालिअंटेण वा पत्तेण वा पत्तभंगेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वावि पुग्गलं न फुमेज्जा न वीएज्जा अन्नं न फुमावेज्जा न वीआवेज्जा अन्नं फुमंतं वा वीअंतं वा न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।।४।।

(सू.१३)

सं.छा.: स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एककी वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा स सितेन वा विधुवनेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा पत्रभङ्गेन वा शाखया वा शाखाभङ्गेन वा पिच्छेन वा पिच्छहस्तेन वा चेलेन वा चेलकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा आत्मनो वा कायं, बाह्यं वाऽपि पुद्गलं न फूत्कुर्यान्न वीजयेदन्यं न फूत्कारयेन्न वीजयेदन्यं फूत्कुर्वन्तं वा वीजयन्तं वा न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हाम्यात्मानं व्युत्सृजामि ।।४।।

(सू.१३)

शब्दार्थ - (से) पूर्वोक्त पंचमहाव्रतों के धारक (संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे) संयम युक्त, विविध तपस्याओं में लगे हुए और प्रत्याख्यान से पापकर्मों को नष्ट करनेवाले (भिक्खू वा) साधु अथवा (भिक्खूणी वा) साध्वी (दिआ वाँ) दिवस में, अथवा (राओ वा) रात्रि में, अथवा (एगओ वा) अकेले, अथवा (परिसागओ वा)

सभा में, अथवा (सुत्ते वा) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे) जागते हुए (वा) दूसरी और भी कोई अवस्था में (से) वायुकायिक जीवों की जयणा इस प्रकार करें कि (सिएण वा) सफेद चामरों से (विहुणेण वा) बींजना से (तालियंटेण वा) ताल पत्र से (पत्तेण वा) कमल आदि के पत्तों से (पत्तभंगेण वा) कमल आदि के पत्र समूह से (साहाए वा) वृक्ष की डाली से (साहाभंगेण वा) डालियों के समूह से (पिहुणेण वा) मयूर पींछ से (पिहुणहत्थेण वा) मोर पींछ की पुंजनी से (चेलेण वा) वस्त्र से (चेलकन्नेण वा) वस्त्र के छेड़ा से (हत्थेण वा) हाथों से (मुहेण वा) मुख से (अप्पणो वा कायं) खुद के शरीर को (बाहिरं वा वि पुग्गलं) गर्म जल, दूध आदि के उष्ण पुद्गलों को भी (न फुमेज्जा) फूंक देवे नहीं (न वीएज्जा) हवा देवे नहीं (अन्नं) दूसरों के पास (न फुमाविज्जा) फूंक दिलवाएं नहीं (न वीएज्जा) हवा दिलवाएं नहीं (अन्नं) दूसरों को (फुमंतं वा) फूंक देते हुए अथवा (वीयंतं) हवा डालते हुए (वा) और तरह से भी वायुकाय का विनाश करते हुए (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं ऐसा भगवान् ने कहा; अतएव मैं (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदित रूप वायुकायिक त्रिविध-हिंसा को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेण) तीन योग से (न करेमि) नहीं करूं, (न कारवेमि) नहीं कराऊं, (करंतं) करते हुए (अन्नं पि) दूसरों को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) भूतकाल में की गयी हिंसा की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूँ (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूँ (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ (अप्पाणं) वायुकाय की हिंसा करनेवाली आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूँ।

वनस्पतिकाय की रक्षा :

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा संजयविरयपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीअपईट्ठेसु वा रूढेसु वा, रूढपईट्ठेसु वा, जाएसु वा, जायपईट्ठेसु वा, हरिएसु वा, हरिअपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा, छिन्नपईट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा, सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा, न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा, न निसीएज्जा, न तुअट्टेज्जा, अन्नं न गच्छावेज्जा, न चिट्ठावेज्जा, न निसीआवेज्जा, न तुअट्टावेज्जा, अन्नं गच्छंतं वा, चिट्ठंतं वा, निसीयंतं वा, तुयट्टंतं वा, न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥५॥ (सू.१४)

संछा.: स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयतविरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा स बीजेषु वा बीजप्रतिष्ठितेषु वा रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तेषु वा सचित्तकोलप्रतिनिश्रितेषु वा न गच्छेन्न तिष्ठेन्न निषीदेन्न त्वग्वर्त्तयेदन्यं न गमयेन्न स्थापयेन्न निषीदयेन्न स्वापयेदन्यं गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निषीदन्तं वा स्वपन्तं वा न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हाम्यात्मानं व्युत्सृजामि ।।५।। (सू.१४)

शब्दार्थ - (से) पूर्वोक्त पंचमहाव्रतों के धारक (संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे) संयम युक्त, विविध तपस्याओं में लगे हुए और प्रत्याख्यान से पापकर्मों को नष्ट करनेवाले (भिक्खू वा) साधु अथवा (भिक्खूणी वा) साध्वी (दिआ वा) दिवस में, अथवा (राओ वा) रात्रि में, अथवा (एगओ वा) अकेले, अथवा (परिसागओ वा) सभा में, अथवा (सुत्ते वा) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे) जागते हुए (वा) दूसरी और भी कोई अवस्था में (से) वनस्पतिकायिक जीवों की जयणा इस प्रकार करें कि (बीएसु वा) शाली आदि बीजों के ऊपर (बीयपइट्ठेसु वा) बीजों पर रहे आसन ऊपर (रूढेसु वा) अंकुरों के ऊपर (रूढपइट्ठेसु वा) अंकुरों पर रहे आसन आदि वस्तुओं के ऊपर (जाएसु वा) धान्य के खेतों में (जायपइट्ठेसु वा) धान्य के खेतों में रहे आसन आदि वस्तुओं के ऊपर (हरिएसु वा) हरे घास के ऊपर (हरियपइट्ठेसु वा) हरे घास पर रहे आसन आदि वस्तुओं के ऊपर (छिन्नेसु वा) कटी हुई वृक्ष की डाली के ऊपर (छिन्नपइट्ठेसु वा) कटी हुई वृक्ष-डाली पर रहे आसन आदि के ऊपर (सच्चित्तेसु वा) अंडा आदि के ऊपर (सच्चित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा) घुण आदि जन्तुयुक्त आसन आदि वस्तुओं के ऊपर (न गच्छेज्जा) गमन करे नहीं (न चिट्ठेज्जा) खड़ा रहे नहीं (न निसीएज्जा) बैठे नहीं (न तुअट्टेज्जा) सोएं नहीं (अन्नं) दूसरों को (न गच्छावेज्जा) गमन कराएं नहीं (न चिट्ठावेज्जा) खड़ा कराएं नहीं (न निसीयावेज्जा) बैठाएं नहीं (न तुअट्टाविज्जा) सुलाएं नहीं (अन्नं) दूसरों को (गच्छंतं वा) गमन करते हुए अथवा (चिट्ठंतं वा) खड़ा रहते हुए अथवा (निसीयंतं वा) बैठते हुए अथवा (तुअट्टंतं वा) सोते हुए और किसी भी तरह से भी वनस्पतिकाय की हिंसा करते हुए (न समणुजाणेज्जा) अच्छा समझे नहीं ऐसा भगवान् ने कहा; अतएव मैं (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (तिविहं) कृत, कारित, अनुमोदित रूप वनस्पतिकायिक त्रिविध-हिंसा को (मणेणं) मन (वायाए) वचन (काएणं) काया रूप (तिविहेण) तीन योग से (न करेमि) नहीं करूं, (न कारवेमि) नहीं कराऊं, (करंतं)

करते हुए (अन्नं पि) दूसरों को भी (न समणुजाणामि) अच्छा नहीं समझूं (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) भूतकाल में की गयी हिंसा की (पडिक्कमामि) प्रतिक्रमण रूप आलोयणा करता हूँ (निंदामि) आत्म-साक्षी से निंदा करता हूँ (गरिहामि) गुरु-साक्षी से गर्हा करता हूँ (अप्पाणं) वनस्पतिकाय की हिंसा करनेवाली आत्मा का (वोसिरामि) त्याग करता हूँ।

त्रसकाय की रक्षा :

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा संजयविरयपडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से कीडं वा, पयंगं वा, कुंथुं वा, पिपीलीअं वा, हत्थंसि वा, पायंसि वा, बाहुंसि वा, ऊरुंसि वा, उदरंसि वा, सीसंसि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहंसि वा, कंबलंसि वा, पायपुंछणंसि वा, रयहरणंसि वा, गोच्छगंसि वा, उंडगंसि वा, दंडगंसि वा, पीढगंसि वा, फलगंसि वा, सेज्जंसि वा, संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा, तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिअ पडिलेहिअ, पमज्जिअ पमज्जिअ, एगंतमवणेज्जा, नो णं संघायमावज्जेज्जा ।।६।। (सू.१५)

सं.छा.: स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा स कीटं वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपीलिकां वा हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरुणि वा उदरे वा शिरसि वा वस्त्रे वा प्रतिग्रहे वा कम्बलके वा पादप्रोञ्छनके वा रजोहरणे वा गोच्छके वा उन्दके वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा शय्यायां वा संस्तारके वाऽन्यतरस्मिन् तथाप्रकारे उपकरणजाते ततः संयत एव प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तेऽपनयेन्नैनं सङ्घातमापादयेत् ।।६।। (सू.१५)

शब्दार्थ - (से) पूर्वोक्त पंचमहाव्रतों के धारक (संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे) संयम युक्त, विविध तपस्याओं में लगे हुए और प्रत्याख्यान से पापकर्मों को नष्ट करनेवाले (भिक्खू वा) साधु अथवा (भिक्खूणी वा[1]) साध्वी (दिआ वा) दिवस में, अथवा (राओ वा) रात्रि में, अथवा (एगओ वा) अकेले, अथवा (परिसागओ वा) सभा में, अथवा (सुत्ते वा) सोते हुए, अथवा (जागरमाणे) जागते हुए (वा) दूसरी और भी कोई अवस्था में (से) त्रसकायिक जीवों की रक्षा इस प्रकार करें कि (कीडं वा[2])

१ 'वा' शब्द से सामान्य विशेष साधु साध्वी का ग्रहण करना। २. 'वा' शब्द से कीट, पतंग, कुन्थु, कीड़ी आदि में सभी जातियों को ग्रहण करना चाहिए

कीट (पयंगं वा) पतंग (कुंथं वा) कुन्थु (पिपीलियं वा) कीड़ी आदि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों को (हत्थंसि वा) हाथों पर अथवा (पायंसि वा) पैरों पर अथवा (बाहुंसि वा) भुजाओं पर अथवा (ऊरूंसि वा) जंघाओं पर अथवा (उदरंसि वा) पेट पर अथवा (सीसंसि वा) मस्तक पर अथवा (वत्थंसि वा) वस्त्रों में अथवा (पडिग्गहंसि वा) पात्रों में अथवा (कंबलंसि वा) कंबलियों में अथवा (पायपुच्छणंसि वा) पैरों के पूंछने के कंबल खंड में या दंडासन में अथवा (रयहरणंसि वा) ओघाओं में अथवा (गोच्छगंसि वा) गुच्छाओं में अथवा (उंडगंसि वा) मातरिया, या स्थंडिल में अथवा (दंडगंसि वा) दंडाओं पर अथवा (पीढगंसि वा) बाजोंटों में अथवा (फलगंसि वा) पाटों में अथवा (सेज्जंसि वा) शय्या, वसति आदि में अथवा (संथारगंसि वा) संथारा में (अन्नयरंसि वा) दूसरे और भी (तहप्पगारे) साधु साध्वी योग्य (उवगरणजाए) उपकरण समुदाय में रहे हुए (तओ) हाथ आदि स्थानों से (संजयामेव) जयणा पूर्वक ही (पडिलेहिय पडिलेहिय) वारं वार देख, और (पमज्जिय पमज्जिय) पूंज-पूंज करके (एगंतं) एकान्त स्थान पर (अवणेज्जा) छोड़ देवे, परन्तु (नो णं संघायमावज्जेज्जा) त्रसकायिक जीवों को पीड़ा देवे नहीं।

हे आयुष्मन्! जम्बू! भगवान् श्रीमहावीरस्वामी ने बारह प्रकार की पर्षदा में बैठकर फरमाया है कि पांच महाव्रतों के पालक, सप्तदशविध-संयम के धारक, विविध तपस्याओं के करने और प्रत्याख्यान से पापकर्मों को हटानेवाले साधु अथवा साध्वी दिन में या रात्रि में, अकेले या सभा में, सोते या जागते हुए, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन जीवों की जयणा खुद करे, दूसरों को जयणा रखने का उपदेश देवे और जयणा रखनेवाले को अच्छा समझें।

षट्कायिक जीवों की हिंसा खुद न करें, दूसरों के पास हिंसा न करावे और हिंसा करनवालों को अच्छा न समझें। भूतकाल में जो षट्कायिक जीवों की हिंसा की गयी है उसकी आलोयणा करे, निन्दा करे और पापकारक आत्मा का त्याग करे। इस प्रकार ज्ञपरिज्ञा से प्रतिज्ञा करके संयमधर्म का अच्छी तरह पालन करे।

जम्बूस्वामी कहते हैं कि हे भगवन्! षड्कायिक जीवों की जयणा (रक्षा) करने का स्वरूप जो आपने ऊपर दिखलाया है उस अनुसार मैं खुद पालन करूंगा, दूसरों से पालन कराऊंगा और पालन करनेवालों को अच्छा समझूंगा। षट्कायिकजीवों की हिंसा खुद नहीं करूंगा, दूसरों के पास नहीं कराऊंगा और हिंसा करनेवालों को अच्छा नहीं समझूंगा। भूतकाल[1] में बिना उपयोग से जो हिंसा हो चुकी है उसकी आत्मा और गुरु की साख से निन्दा करता हूँ और उस पाप करनेवाले आत्म[2]-परिणाम को हमेशा[3] के लिए छोड़ता हूँ। यह प्रतिज्ञा एक दो दिन के लिए ही नहीं, किन्तु जीवन[4] पर्यन्त

१ दीक्षा लेने के पहले के समय में। २.जीव स्वभाव। ३. सदा केलिए। ४. जीता रहूं तब तक। ५. संयम का खप करनेवाले। ६. मोक्ष की इच्छा रखनेवाले। ७. असली मोक्षमार्ग।

के लिए करता हूँ।

दूसरे आत्मार्थी मोक्षाभिलाषुक साधु साध्वियों को भी उपरोक्त प्रकार से षट्कायिक जीवों की जयणा करते हुए ही संयम-धर्म में वरतना चाहिए। क्योंकि हर एक जीवों पर दया रखना यही पारमार्थिक मार्ग है।

जयणा और विहार आदि करने का उपदेश

अजयं चरमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ।।१।।

सं.छा.: अयतं (च) चरंश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापकं कर्म्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ।।१।।

शब्दार्थ - (अजयं) ईर्यासमिति का उल्लंघन करके (चरमाणो) गमन करता हुआ साधु (पाणभूयाइं) एकेन्द्रिय आदि जीवों की (हिंसइ) हिंसा करता है (य) और (पावयं कम्मं) ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों को (बंधइ) बांधता है (से) उस (तं) पापकर्म का (कडुअं फलं) कडुआ फल (होइ) होता है।

अजयं चिट्ठमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ।।२।।

सं.छा.: (एवं) अयतं तिष्ठंश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापकं कर्म्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम्।।२।।

शब्दार्थ - (अजयं) ईर्यासमिति का उल्लंघन करके (चिट्ठमाणो) खड़ा रहता हुआ साधु (पाणभूयाइं) एकेन्द्रिय आदि जीवों की (हिंसइ) हिंसा करता है (य) और (पावयं कम्मं) ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों को (बंधइ) बांधता है (से) उस (तं) पापकर्म का (कडुअं फलं) कटु फल (होइ) होता है।

अजयं आसमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ।।३।।

सं.छा.: (एवं) अयतमासीनश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति।
बध्नाति पापकं कर्म्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम् ।।३।।

शब्दार्थ - (अजयं) ईर्यासमिति का उल्लंघन करके (आसमाणो) बैठता हुआ साधु (पाणभूयाइं) एकेन्द्रिय आदि जीवों की (हिंसइ) हिंसा करता है (य) और (पावयं कम्मं) ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों को (बंधइ) बांधता है (से) उस (तं) पापकर्म का (कडुअं फलं) कटु फल (होइ) होता है।

अजयं सयमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ।।४।।

---

१. नाश

सं.छा.: अयतं स्वपंश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति।

बध्नाति पापकं कर्म्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम्।।४।।

शब्दार्थ - (अजयं) ईर्यासमिति का उल्लंघन करके (सयमाणो) शयन करता हुआ साधु (पाणभूयाइं) एकेन्द्रिय आदि जीवों की (हिंसइ) हिंसा करता है (य) और (पावयं कम्मं) ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों को (बंधइ) बांधता है (से) उस (तं) पापकर्म का (कडुअं फलं) कटु फल (होइ) होता है।

अजयं भुंजमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ।

बंधई पावयं कम्मं तं से होइ कडुयं फलं ।।५।।

सं.छा.: अयतं भुञ्जानश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति।

बध्नाति पापकं कर्म्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम्।।५।।

शब्दार्थ - (अजयं) एषणासमिति का उल्लंघन करके (भुंजमाणो) भोजन करता हुआ साधु (पाणभूयाइं) एकेन्द्रिय आदि जीवों की (हिंसइ) हिंसा करता है (य) और (पावयं कम्मं) ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों को (बंधइ) बांधता है (से) उस (तं) पापकर्म का (कडुअं फलं) कटु फल (होइ) होता है।

अजयं भासमाणो अ, पाणभूयाइं हिंसइ।

बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ।।६।।

सं.छा.: अयतं भाषमाणश्च, प्राणभूतानि हिनस्ति।

बध्नाति पापकं कर्म्म, तत्तस्य भवति कटुकं फलम्।।६।।

शब्दार्थ - (अजयं) भाषासमिति का उल्लंघन करके (भासमाणो) बोलता हुआ साधु (पाणभूयाइं) एकेन्द्रिय आदि जीवों की (हिंसइ) हिंसा करता है (य) और (पावयं कम्मं) ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों को (बंधइ) बांधता है (से) उस (तं) पापकर्म का (कडुअं फलं) कटु फल (होइ) होता है।

साधु अथवा साध्वी ईर्यासमिति का उल्लंघन[1] करके अजयणा से गमन करते, खड़े रहते, बैठते, शयन करते, एषणासमिति का उल्लंघन करके अयत्ना से भोजन करते, और भाषासमिति का उल्लंघन करके अयत्ना से बोलते हुए एकेन्द्रिय आदि जीवों की हिंसा करते हैं और ज्ञानावरणीय आदि आठ[2] कर्मों को बांधते हैं,और उन पापकर्मों का संसार में परिभ्रमण रूप कटु फल मिलता है।

कहं चरे? कहं चिट्ठे?, कहमासे? कहं सए?।

कहं भुंजतो भासंतो?, पावं कम्मं न बंधइ ।।७।।

सं.छा.: कथं चरेत्कथं तिष्ठेत्कथमासीत कथं स्वपेत्।

---

१. नाश। २. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, नामकर्म, गोत्रकर्म, अन्तरायकर्म और आयुष्य कर्म ये आठ कर्म हैं। इनमें नाम, गोत्र, वेदनीय, आयु ये चार भवोपग्राही कर्म कहलाते हैं

कथं भुञ्जानो भाषमाणः पापं कर्म्म न बध्नाति?।।७।।

शब्दार्थ - (कहं) किस प्रकार (चरे) गमन करे? (कहं) किस प्रकार (चिट्ठे) खड़ा रहे? (कहं आसे) किस प्रकार बैठे? (कहं) किस प्रकार (सए) शयन करे? (कहं) किस प्रकार (भुंजंतो) भोजन करे? और (भासं) बोलते हुए (पावकम्मं) पापकर्म को (न बंधइ) नहीं बांधता?

जम्बूस्वामी पूछते हैं कि हे भगवन्! किस प्रकार चलते, बैठते, खड़े रहते, सोते, भोजन करते और बोलते हुए साधु-साध्वी पाप-कर्म को नहीं बांधते हैं?

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बंधइ।।८।।

सं.छा.: यतं चरेद्यतं तिष्ठेद्, यतमासीत यतं स्वपेत्।
यतं भुञ्जानो यतं भाषमाणः पापं कर्म्म न बध्नाति।।८।।

शब्दार्थ - (जयं) जयणा से (चरे) गमन करते (जयं) जयणा (सेचिट्ठे) खड़े रहते (जयमासे) जयणा से बैठते (जयं) जयणा से (सए) सोते (जयं) जयणा से (भुंजंतो) भोजन करते और जयणा से (भासंतो) बोलते हुए (पावकम्मं) पापकर्म को (न बंधइ) नहीं बांधते हैं।

सुधर्मास्वामी फरमाते हैं कि हे जम्बू! ईर्यासमिति सहित जयणा से गमन करते, खड़े रहते, बैठते, सोते हुए, एषणासमिति सहित जयणा से भोजन करते हुए और भाषासमिति सहित जयणा से परिमित बोलते हुए पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता।

"सभी आत्मा को स्वात्म सम मानना"

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ।।९।।

सं.छा.: सर्वभूतात्मभूतस्य, सम्यग् भूतानि पश्यतः।
पिहिताश्रवस्य दान्तस्य, पापं कर्म न बध्नाति।।९।।

शब्दार्थ - (सव्वभूयप्पभूअस्सं) सभी जीवों को आत्मा के समान समझनेवाले (सम्मं) अच्छे प्रकार से (भूयाइं) समस्त प्राणियों को (पासओ) देखनेवाले (पिहिआसवस्स) आश्रव द्वारों को रोकनेवाले (दंतस्स) इन्द्रियों को दमनेवाले साधु-साध्वियों को (पावकम्मं) पापकर्म का (न बंधइ) बंध नहीं होता है।

जो साधु-साध्वी आश्रवद्वारों को रोकने, इन्द्रियों को दमने, सभी जीवों को आत्मा के समान समझने और देखनेवाले हैं उनको पापकर्म का बंध नहीं होता।

"ज्ञान की महत्ता"

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाहीइ छेअपावगं ।।१०।।

सं.छा.: प्रथमं ज्ञानं ततो दया, एवं तिष्ठति सर्वसंयतः।
अज्ञानी किं करिष्यति, किं वा ज्ञास्यति छेकं पापकम् ।।१०।।

शब्दार्थ - (पढमं) पहले (नाणं) जीव, अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञान (तओ) उसके बाद (दया) संयम रूप क्रिया है (एवं) इस प्रकार ज्ञान और क्रिया से (चिट्ठए) रहता हुसा साधु (सव्वसंजए) सर्व प्रकार से संयत होता है (अन्नाणी) जीव अजीव आदि तत्त्वज्ञान से रहित साधु (किं काही) क्या करेगा (वा) अथवा (सेयापावगं) पुण्य और पाप को (किं नाही) क्या समझेगा?

पहले ज्ञान और बाद में दया याने संयम रूप क्रिया से युक्त साधु साभी प्रकार से संयत कहलाता है। ज्ञानक्रिया से रहित साधु पुण्य और पाप के स्वरूप को नहीं जान सकता।

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयंपि जाणइ सोच्चा, जं सेयं तं समायरे ।।११।।

सं.छा.: श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यच्छेकं (च्छ्रेयः) तत्समाचरेत् ।।११।।

शब्दार्थ - (सोच्चा) आगमों को सुन करके (कल्लाणं) संयम के स्वरूप को (जाणइ) जानता है (सोच्चा) आगमों को सुन करके (उभयं पि) संयम और असंयम को (जाणए) जानते हुए साधु (जं) जो (सेयं) आत्म हितकारी हो (तं) उसको (समायरे) आचरण करे।

जिनेश्वर प्ररूपित आगमों को सुनने से कल्याणकारी और पापकारी मार्ग का ज्ञान होता है और दोनों मार्गों का ज्ञान होने के बाद जो मार्ग अच्छा मालूम पड़े उसको स्वीकार कर लेना चाहिए।

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं? ।।१२।।

सं.छा.: यो जीवानपि न जानाति, अजीवानपि न जानाति।
जीवाजीवानजानन्, कथमसौ ज्ञास्यति संयमम् ।।१२।।

शब्दार्थ - (जो) जो पुरुष (जीवे वि) एकेन्द्रिय आदि जीवों को भी (न याणेइ) नहीं जानता है (अजीवे वि) अजीव पदार्थों को भी (न याणइ) नहीं जानता है (सो) वह पुरुष (जीवाऽजीवे) जीव अजीव को (अयाणंतो) नहीं जानता हुआ (संयमं) सप्तदशविध संयम को (कहं) किस प्रकार (नाहीइ) जानेगा?

जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सोहु नाहीइ संजमं ।।१३।।

सं.छा.: यो जीवानपि विजानाति, अजीवानपि विजानाति।
जीवाजीवानपि विजानन्, स एव ज्ञास्यति संयमम् ।।१३।।

शब्दार्थ - (जो) जो पुरुष (जीवे वि) एकेन्द्रिय आदि जीवों को भी (वियाणेइ) विशेषरूप से जानता है (अजीवे वि) अजीव पदार्थों को भी (विणायइ) विशेषरूप से जानता है (सो) वह पुरुष (जीवाऽजीवे) जीव अजीव के स्वरूप को (वियाणंतो) अच्छी तरह से जानता हुआ (संजमं) सप्तदशविध संयम को (हु) निश्चय से (नाहीइ) जानेगा।

जो पुरुष जीव और अजीव द्रव्य के स्वरूप को नहीं जानता वह संयम के स्वरूप को भी किसी प्रकार से नहीं जान सकता और जो जीव तथा अजीव द्रव्य को अच्छी रीति से जानता है वही संयम के स्वरूप को जान सकता है। मतलब यह कि जीव अजीव द्रव्यों के रहस्य को समझनेवाला पुरुष ही संयम की वास्तविकता को भली प्रकार समझ सकता है।

जया जीवमजीवे अ, दोवि एए वियाणइ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ ।।१४।।

सं.छा.: यदा जीवानजीवांश्च, द्वावप्येतौ विजानाति।
तदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति ।।१४।।

शब्दार्थ - (जया) जब (जीवं) जीव (य) और (अजीवे) अजीव[1] (एए) इन (दोवि) दोनों को ही (वियाणइ) जानता है (तया) तब (सव्वजीवाण) समस्त जीवों की (बहुविहं) नाना प्रकार की (गइं) गति को (जाणइ) जानता है।

जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ ।।१५।।

सं.छा.: यदा गतिं बहुविधां, सर्वजीवानां जानाति।
तदा पुण्यं च पापं च, बन्धं मोक्षं च जानाति ।।१५।।

शब्दार्थ - (जया) जब (सव्वजीवाण) समस्त जीवों की (बहुविहं) नाना प्रकार की (गइं) गति को (जाणइ) जानता है (तया) तब (पुण्णं च) पुण्य और (पावं च) पाप (बंधं) बन्ध (च) और (मोक्खं) मोक्ष को (जाणइ) जानता है।

जीव, अजीव के स्वरूप को भले प्रकार जान लेने से ही उनकी नाना प्रकार की गतियों का ज्ञान होता है और उनसे पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों की जानकारी होती है।

जया पुण्णं च पावं च, बंधं मुक्खं च जाणइ।
तया निव्विंदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुस्से ।।१६।।

धर्मास्तिकाय - जो चलने में सहायक है, अधर्मास्तिकाय-जो स्थिर रहने में सहायक है, आकाशास्तिकाय-जो अवकाशदायक है, पुद्गलास्तिकाय-जो सडन पडन विध्वंसनयुक्त है, काल-जो नये को पुराना करनेवाला है, ये पांच द्रव्य अजीव हैं।

सं.छा.: यदा पुण्यं च पापं चं, बन्धं मोक्षं च जानाति।
तदा निर्विन्ते भोगान्, यान् दिव्यान्यांश्च मानुषान् ।।१६।।

शब्दार्थ - (जया) जब (पुण्णं च) पुण्य और (पावं च) पाप और (बंध मोक्खं) बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों को (जाणइ) जानता है (तया) तब (जे) जो (दिव्वे) देवसंबन्धी (जे) जो (माणुसे) मनुष्य संबन्धी (य) और तिर्यंच संबन्धी (भोए) भोग हैं, उनको (निव्विंदए) असार जानता है।

जया निव्विंदए भोगे, जे दिव्वे जे य माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं ।।१७।।

सं.छा.: यदा निर्विन्ते भोगान्, यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्।
तदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तरबाह्यम् ।।१७।।

शब्दार्थ - (जया) जब (जे) जो (दिव्वे) देवसंबन्धी (जे) जो (माणुसे) मनुष्य संबन्धी (य) और तिर्यंच संबन्धी (भोए) भोग हैं. उनको (निव्विंदए) असार जानता है (तया) तब (सब्भिंतरं च) राग, द्वेष आदि अभ्यन्तर सहित (बाहिरं) पुत्र, कलत्र आदि बाह्य (संजोगं) संयोगों को (चयइ) छोड़ता है।

पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदि तत्त्वों का ज्ञान हासिल होने से मनुष्य, देव, मानव और तिर्यंच संबन्धी भोगविलासों को तुच्छ समझता है। ऐसी समझ हो जाने से बाह्य और अभ्यन्तर संयोगों का त्याग करता है।

''ज्ञान का फल''

जया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं।
तया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारिअं ।।१८।।

सं.छा.: यदा त्यजति संयोगं, साभ्यन्तरबाह्यम्।
तदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजति अनगारिताम्।।१८।।

शब्दार्थ - (जया) जब (सब्भिंतरं च) अभ्यन्तर सहित (बाहिरं) बाह्य (संजोगं) संयोगों को (चयइ) छोड़ता है (तया) तब (मुंडे) द्रव्य भाव से मुंडित दीक्षित (भवित्ताणं) हो करके (अणगारियं) साधुपन को (पव्वइए) अंगीकार करता है।

जया मुंडे भवित्ताणं, पव्वइए अणगारिअं।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं ।।१९।।

सं.छा.: यदा मुण्डो भूत्वा, प्रव्रजति अनगारिताम्।
तदा संवरमुत्कृष्टं, धर्म्मं स्पृशत्यनुत्तरम्।।१९।।

शब्दार्थ - (जया) जब (मुंडे) द्रव्य भाव से मुंडित (भवित्ताणं) हो करके (अणगारियं) साधुपन को (पव्वइए) अंगीकार करता है (तया) तब (संवरमुक्किट्ठं) उत्तम संवरभाव और अणुत्तरं सर्वोत्तम (धम्मं) जिनेन्द्रोक्त धर्म को (फासे) फरसता है।

अभ्यन्तर और बाह्य संयोगों का त्याग करने से मनुष्य, द्रव्य भाव से मुंडित होकर यानी दीक्षा लेकर साधु होता है और साधु होकर उत्तम संवर और सर्वोत्तम जिनेन्द्रोक्त धर्म को फरसता है। मतलब यह कि साधु होने बाद ही मनुष्य, उत्तम संवरभाव और धर्म को प्राप्त करता है।

जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं ।।२०।।

सं.छा.: **यदा संवरमुत्कृष्टं धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम्।**
तदा धुनाति कर्म्मरजः, अबोधिकलुषं कृतम्।।२०।।

शब्दार्थ - (जया) जब (संवरमुक्किट्ठं) उत्तम संवर भाव और (अणुत्तरं) सर्वोत्तम (धम्मं) जिनेन्द्रोक्त धर्म को (फासे) फरसता है (तया) तब (अबोहिकलुसं कडं) मिथ्यात्व आदि से किये हुए (कम्मरयं) कर्म-रज को (धुणइ) साफ करता है।

जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ ।।२१।।

सं.छा.: **यदा धुनाति कर्म्मरजः, अबोधिकलुषं कृतम्।**
तदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति ।।२१।।

शब्दार्थ - (जया) जब (अबोहिकलुसं कडं) मिथ्यात्व आदि से किये हुए (कम्मरयं) कर्म-रज को (धुणइ) साफ करता है (तया) तब (सव्वत्तगं) लोकाऽलोकव्यापी (नाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) दर्शन को (अभिगच्छइ) प्राप्त करता है।

उत्तम संवरभाव और जिनेन्द्रोक्त धर्म की स्पर्शना होने से मनुष्य, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग आदि से संचित की हुई कर्म रूपी धूली को साफ करता है और बाद में उसको केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त होता है।

जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ।।२२।।

सं.छा.: **यदा सर्वत्रगं ज्ञानं, दर्शनं चाभिगच्छति।**
तदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली।।२२।।

शब्दार्थ - (जया) जब (सव्वत्तगं) लोकाऽलोकव्यापी (नाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) दर्शन को (अभिगच्छइ) प्राप्त करता है (तया) तब (जिणो) रागद्वेष को जीतनेवाला (केवली) केवलज्ञानी पुरुष (लोगं) चउदह राज प्रमाण लोक को (च) और (अलोगं) अलोकाकाश को (जाणइ) जानता है।

जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ ।।२३।।

सं.छा.: **यदा लोकमलोकं च, जिनो जानाति केवली।**

तदा योगान् निरुद्धय, शैलेशीं प्रतिपद्यते ।।२३।।

शब्दार्थ - (जया) जब (जिणो) राग द्वेष को जीतनेवाला (केवली) केवलज्ञानी पुरुष (लोगं) लोक (च) और (अलोगं) अलोक को (जाणइ) जानता है (तया) तब (जोगे) मन-वचन-काय इन तीन योगों को (निरुंभित्ता) रोक करके भवोपग्राही कर्मांशों के विनाशार्थ (सेलेसिं) शैलेशी अवस्था को (पडिवज्जइ) स्वीकार करता है।

लोकालोक व्यापी केवलज्ञान और केवलदर्शन पैदा होने से मनुष्य चउदह राज प्रमाण लोक और अलोकाकाश को और उसमें रहे हुए समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् जानता और देखता है। चउदह राज प्रमाण लोक और अलोकाकाश को जानने, देखने के बाद भवोपग्राही कर्मांशों का नाश करने के लिए केवलज्ञानी पुरुष मानसिक वाचिक और कायिक योगों को रोककर शैलेशी (निष्प्रकम्प) अवस्था को धारण करता है।

जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।।२४।।

सं.छा.: यदा योगान्निरुद्धय, शैलेशीं प्रतिपद्यते।
तदा कर्म्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः।।२४।।

शब्दार्थ - (जया) जब (जोगे) मन-वचन-काया इन तीन योगों को (निरुंभित्ता) रोक करके (सेलेसिं) शैलेशी अवस्था को (पडिवज्जइ) स्वीकार करता है (तया) तब (कम्मं) भवोपग्राही कर्मों को (खवित्ताणं) खपा करके (नीरओ) कर्मरज से रहित पुरुष (सिद्धिं) मोक्ष में (गच्छइ) जाता है।

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ।।२५।।

सं.छा.: यदा कर्म्म क्षपयित्वा, सिद्धिं गच्छति नीरजाः।
तदा लोकमस्तकस्थः सिद्धो भवति शाश्वतः।।२५।।

शब्दार्थ - (जया) जब (कम्मं) कर्मों को (खवित्ताणं) खपा करके (नीरओ) कर्मरज से रहित पुरुष (सिद्धिं) मोक्ष में (गच्छइ) जाता है (तया) तब (लोगमत्थयत्थो) लोक के ऊपर स्थित (सासओ) सदा शाश्वत (सिद्धो) सिद्ध (हवइ) होता है।

योगों को रोककर शैलेशी अवस्था को प्राप्त करने से मनुष्य, भवोपग्राही कर्मरज से रहित होकर, मोक्ष में बिराजमान होता है और लोक के उपर रहा हुआ सदा शाश्वत सिद्ध बन जाता है।

''सुगति दुर्लभ''

सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोअस्स, दुल्लहा सुगइ तारिसगस्स ।।२६।।

सं.छा.: सुखास्वादकस्य श्रमणस्य साताकुलस्य निकामशायिनः।
उत्सोलनाप्रधाविनः, दुर्लभा सुगतिस्तादृशस्य ।।२६।।

शब्दार्थ - (सुहसायगस्स) शब्दादि विषयों के सुख का स्वाद लेनेवाले (सायाउलगस्स) भावि-सुखों के लिए आकुल (निगामसाइस्स) खा-पीकर रात दिन पडे रहनेवाले (उच्छोलणापहोअस्स) विना कारण हाथ, पैर, मुख, दांत आदि अंगोपांगों को धोकर साफ रखनेवाले (तारिसगस्स) इस प्रकार जिनाज्ञा लोपी (समणस्स) साधु को (सुगइ) सिद्धि गति (दुल्लहा) मिलना कठिन है।

जो साधु-साध्वी शब्दादि विषयों के सुखास्वाद में लगे हुए हैं, भावि सुखों के वास्ते आकुल हो रहे हैं, खा-पीकर रात-दिन पड़े रहते या फिजूल बातें करके अपने अमूल्य समय को बरबाद कर रहे हैं और बिना कारण शोभा के निमित्त हाथ-पैर आदि अंगोपांगों को धोकर साफ रखते हैं उनको सिद्धिगति मिलना अत्यन्त कठिन है।

''सुगति सुलभ''

तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ-खंति-संजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स सुलहा सुगइ तारिसगस्स।।२७।।

सं.छा.: तपोगुणप्रधानस्य ऋजुमतेः क्षान्तिसंयमरतस्य।
परीषहान् जयतः सुलभा सुगतिस्तादृशस्य ।।२७।।

शब्दार्थ - (तवोगुणप्पहाणस्स) छट्ठ, अट्ठम आदि तपस्याओं के गुण से श्रेष्ठ (उज्जुमइ) मोक्षमार्ग में बुद्धि को लगाने वाले (खंतिसंजमरयस्स) शांति और संयम क्रिया में रक्त (परीसहे) बाईस परिषहों को (जिणंतस्स) जीतनेवाले (तारिसगस्स) इस प्रकार जिनाज्ञा के पालन करनेवाले साधु को (सुगइ) सिद्धिगति (सुलहा) मिलना सहज है।

जो साधु-साध्वी नाना प्रकार की तपस्याओं को करने में, निष्कपट शान्तिभाव से संयम क्रिया पालन करने में, बाईस परिषहों को जीतने में और जिनेश्वरों की आज्ञा के अनुसार चलने में कटिबद्ध हैं उनको सदा शाश्वत सिद्ध अवस्था मिलना सहज है।

पच्छावि ते पयाया खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो अ, खंती अ बंभचेरं च ।।२८।।

सं.छा.: पश्चादपि ते प्रयाताः क्षिप्रं गच्छन्त्यमरभवनानि।
येषां प्रियं तपः संयमश्च क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च।।२८।।

शब्दार्थ - (जेसिं) जिन पुरुषों को (तवो) बारह प्रकार के तप (अ) और (संजमो) सतरह प्रकार का संयम (अ) तथा (खंति) क्षमा (च) और (बंभचेरं) ब्रह्मचर्य (पिओ) प्रिय है (ते) वे (पच्छा वे) अन्तिम अवस्था में भी (पयाया) संयम-मार्ग में चलते हुए (अमरभवणाइं) देवविमानों को (खिप्पं) जल्दी से (गच्छंति) पाते हैं।

आखिरी (वृद्ध) अवस्था में भी जिन पुरुषों को तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है, वे संयममार्ग में रहते हुए देवविमानों को अवश्य प्राप्त करते हैं। मतलब यह कि वृद्धावस्था में दीक्षा लेकर उसको अच्छी रीति से पालन करनेवाला पुरुष देवगति में जरुर जाता है।

इच्चेयं छज्जीवणिअं सम्मद्दिट्ठी सया जये।
दुल्लहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ।।२९।।
।। त्ति बेमि ।।

सं.छा.: इत्येतां षड्जीवनिकायिकां सम्यग्दृष्टिः सदा यतः।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं कर्मणा न विराधयेत् ।।२९।। इति ब्रवीमि।।

शब्दार्थ - (सया) निरन्तर (जए) जयणा रखते हुए (सम्मद्दिट्ठि) सम्यग्दृष्टि पुरुष (दुल्लहं) कठिनता से मिलनेवाले (सामण्णं) चारित्र को (लभित्तु) पा करके (इच्चेयं) इस प्रकार चौथे अध्ययन में कही गयी (छज्जीवणियं) षट्कायिक जीवों की (कम्मुणा) मन, वचन, काया इन योग संबन्धी अशुभ क्रिया से न (विराहिज्जासि) विराधना नहीं करे (त्ति) ऐसा (बेमि) मैं अपनी बुद्धि से नहीं, किन्तु तीर्थंकर आदि के उपदेश से कहता हूँ।

हमेशा जयणा से रहनेवाले सम्यगदृष्टि पुरुष अत्यन्त दुर्लभ चारित्र-रत्न को पाकर चौथे अध्ययन में बतलायी हुई षड्जीवनिकाय संबन्धी जयणा की मन, वचन, काया से विराधना नहीं करें।

आशय यह है कि - साधु अथवा साध्वी चौथे अध्ययन में कहे अनुसार पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन षड्जीवनिकाय की जयणा खुद रक्खे, दूसरों के पास जयणा रखावे और जयणा रखनेवालों को मन-वचन-काय इन तीन योगों से अच्छा समझे, लेकिन षड्जीवनिकाय की किसी प्रकार से विराधना नहीं करें।

आचार्य श्रीशय्यंभवस्वामी फरमाते हैं कि हे मनक! षड्जीवनिकाय का स्वरूप और उसकी जयणा रखने का उपदेश जैसा भगवान् श्रीमहावीरस्वामी ने सुधर्मास्वामी को और सुधर्मास्वामी ने अन्तिम केवली जम्बूस्वामी को कहा, उसी प्रकार मैं तुझको कहता हूँ।

।।इति षड्जीवनिका नामकचतुर्थमध्ययनं समाप्तम्।।

❋ ❋ ❋

५ पिण्डैषणा-अध्ययनं : प्रथम उद्देशकः

संबंध :

चतुर्थ अध्ययन में षड्जीवनिकाय का स्वरूप बताया है। षड्जीवनिकाय की रक्षा करने का उपदेश दिया है। षड्जीवनिकाय की रक्षा में मुख्य साधन देह हैं। देह की

सुरक्षा का मुख्य साधन निर्दोष गोचरी है। सदोष गोचरी से देह की सुरक्षा होगी तो षड्जीवनिकाय की विराधना होगी। अतः निर्दोष गोचरी हेतु पिण्डैषणा अध्ययन तीर्थंकर आदि भगवंतों ने प्ररूपित किया है। जिसमें मुनि भगवंतों के एषणासमिति के पालन का विधान दर्शाया है।

पंचम अध्ययन के उपयोगी शब्दार्थ - (भिक्खकालंमि) गोचरी का समय (संपत्ते) हो जाने पर (असंभंतो) असंभ्रान्त (अमुच्छिओ) अमूर्च्छित, (इमेण) इस (कमजोगेण) क्रमशः कही जानेवाली विधि से (गवेसअे) गवेसणा करें ।।१।। (गोअरग्ग गओ) गोचरी गया हुआ (मंदं) धीमे-धीमे (अणुव्विगो) अनुद्विग्न (अव्विक्खित्तेण) अव्याक्षिप्त (चेअसा) मनयुक्त ।।२।। (पुरओ) आगे (जुगमायाअे) साढे तीन हाथ प्रमाण (पेहमाणे) देखता हुआ।।३।। (ओवायं) खड्डे को (विषम) ऊँची-नीची (खाणूं) स्तंभ (विजलं) पानी रहित (परिवज्जअे) त्याग करें (संकमेण) पानी पर पत्थर या काष्ठ के पटिये पर से (गच्छिज्जा) जाय (विज्जमाणे) विद्यमान हो तो (परक्कमे) दूसरे मार्ग पर जावे ।।४।। (से) ते (पक्खलंते) स्खलना होने से (हिंसेज्ज) हिंसा करे ।।५।। (तम्हा) इसलिए (सुसमाहिअे) जिनाज्ञानुसार चलनेवाला (अन्नेण) दूसरे (जयमेव) जयणायुक्त (परक्कमे) चले ।।६।। (इंगालं) अंगारे के, (छारिअं) राख के (राशि) ढेर के (तुस) छिलके (गोमयं) छाण (नइक्कम्मे) उल्लंघन न करे ।।७।। (वासे) वर्षा (वासंते) बरसते हुए (महियाए) धूम्मस (पडंतिअे) गिरते हुए (संपाइमेसु) संपातिम जीव उड़ते हो तब ।।८।। (वेस सामंते) वेश्या के घर के आस-पास (अवसाणअे) विनाश की संभावना (विसुत्तिआ) मनोविकार पतन ।।९।। (अणायणे) गोचरी के लिए निषेध घर (अभिक्खणं) बार-बार (वयाणं) व्रतों को (पीला) पीड़ा (संसओ) संशय (सामन्नंमि) श्रमणरूप में ।।१०।। (अस्सिए) जिसने आश्रय किया है ।।११।। (साणं) कुत्ता (सूइअं) प्रसुता (गाविं) गाय को (दित्तं) मदोन्मत्त (गोणं) वृषभ को ।।१२।। (अणुन्नअे) ऊँचे न देखते हुए (नावणए) नीचे न देखते हुए (अप्पहिट्ठे) हर्षित न होते हुए (अणाउले) अनुकूल (जहाभागं) जिस इंद्रिय का जो विषय हो वह ।।१३।। (दवदवस्स) शीघ्रतापूर्वक (उच्चावयं) ऊँच-नीच ।।१४।। (आलोअं) गवाक्ष (थिग्गलं) बारी आदि (दारं) द्वार (संधि) चोर द्वारा बनाया गया छिद्र (दगभवणाणि) पानी का स्थान (विनिज्जाअे) देखें (संकट्ठाणं) शंका के स्थान को ।।१५।। (रण्णो) राजा की (गिहवइणं) गृहपति की (रहस्स) गुप्त बात (आरक्खिआण) कोटवाल की (संकिलेसकरं) अतिक्लेश का स्थान ।।१६।। (पडिकुट्ठं) प्रतिबंध (मामगं) मेरे घर में मत आओ (अचिअत्तं) अप्रीतिकर ।।१७।। (साणी) शण के पर्दे (पावार) कंबल वस्त्रादि (नाव पंगुरे) खोले नहीं (नोपणुलिज्जा) धक्का न दें ।।१८।। (ओगासं) स्थान (नच्चा) जानकर (अणुन्नविय) आज्ञा लेकर ।।१९।। (णीअ) नीचे द्वार (कुड्डगं) कोष्ठागार, भंडार भौंयरादि ।।२०।। (अहुणा) अभी (उवलित्तं) लिपा हुआ (उल्लं) लीला, आद्र/भीना (दट्ठुणं) देखकर ।।२१।। (एलगं) बकरा (दारगं) बालक (वच्छगं) बच्चा (उल्लंघिआ) उल्लंघनकर

(विउहित्ताण) निकालकर ।।२२।। (असंसत्तं) स्त्री की आंखों से आंखें न मिलाना (पलोइज्जा) अवलोकन करना (नाइदूरावलोअए) अति दूर न देखना (उप्फुल्लं) विकसित नेत्रों से (न विणिज्झाए) न देखें (निअटिज्ज) पीछे लौट जाय (अयंपिरो) बिना बोले ।।२३।। (मिअं) मर्यादा वाली ।।२४।। (संलोगं) देखना ।।२५।। (आयाणे) लाने का मार्ग ।।२६।। (आहरंती) भिक्षा लानेवाली (सिआ) कदाचित् (परिसाडिज्ज) नीचे गिरा देती (तारिसं) वैसा ।।२८।। (संमद्दमाणी) मर्दन करती (असंजमकरिं) साधु के लिए जीव हिंसा करने वाली।।२९।। (साहट्टु) एकत्रितकर (निक्खिवित्ताणं) रखकर (संपणुल्लिआ) एकत्रित हिलाकर ।।३०।। (ओगाहइत्ता) जलादि में चलना (चलइत्ता) इधर-उधर करके ।।३१।। (पुरेकम्मेण) साधु के लिए पूर्व में धोया हुआ (दव्वीअे) कड़छी से ।।३२।। (कुक्कुस कअे) तुरंत के तोड़े हुए क्रौंच बीज (मट्टिआउसे) मट्टी तथा क्षार से (उक्किट्ठ) बड़े फल (संसट्ठे) खरंटित (लोणे) नमक से (गेरूअ) सोनागेरू (सोरट्ठिअ) फटकड़ी ।।३३-३५।। (संसट्टेण) खरंटित (अेसणीयं) निर्दोष ।।३६।। (छंदं) अभिप्राय (पडिलेहअे) विचार करे ।।३७।। (कालमासिणी) पूर्ण मासवाली (निसन्ना) बैठी हुई (पुणट्ठअे) पुनः उठे ।।४०।। (थणगं) स्तन (पिज्जमाणी) पान करानेवाली (निक्खिवित्तु) रखकर (रोअंतो) रोता हुआ (आहरे) लेकर आये ।।४३।। (उव्वण्णत्थं) तैयार किया हुआ ।।४४।। (निसाअे) दलने के पत्थर से (पीढअेण) काष्ठपीठ से (लोढेण) छोटा पत्थर (विलेवेण) मिट्टी का लेप (सिलेसेण) लाक्षादि पदार्थ से (उब्भिंदिउं) लेप आदि दूरकर (दावअे) दाता।।४५-४६।। (दाणट्ठा) दानार्थ ।।४७।। (पुण्णट्ठा) पुण्यार्थ ।।४९।। (वणिमट्ठा) भिक्षाचर हेतु ।।५१।। (समणट्ठा) साधु के लिए ।।५३।। (उस्सक्किआ) चूल्हे में काष्ठ डालकर (ओसक्किया) काष्ठ निकालकर (उज्जलिआ) एकबार काष्ठ डालकर (पज्जालिआ) बार-बार काष्ठ डालकर (निव्वविआ) बुझाकर (उस्सिंचिआ) उभरा आने के भयं से थोड़ा अन्न निकालकर (निस्सिंचिआ) पानी का छिटकावकर (उव्वत्तिआ) दूसरे बर्तन में डालकर (ओयारिया) नीचे उतारकर ।।६३-६४।। (कट्ठं) काष्ठ (संकमट्ठाअे) चलने हेतु (चलाचलं) चलविचल ।।६५।। (निस्सेणिं) निसरणी (पीढं) बाजोट (उस्सवित्ताणं) ऊँचे करके (मंचं) पलंग (कीलं) खीला (पासायं) प्रासाद पर (दुरूहमाणी) दुःखपूर्वक चढती हुई (पवडिज्जा) गिर जाय (लुसअे) टुट जाय (जगे) प्राणी (अेआरिसे) ऐसा ।।६७-६९।। (पलंबं) ताड़ के फल (सन्निरे) पत्र शाक (तुंबागं) तुंबा (सिंगबेरं) अद्रक ।।७०।। (सत्तुचुण्णाइं) सत्तु का चूर्ण (कोल चुण्णाइं) बोर का चूर्ण (आवणे) दुकान (फाणिओ) पतला गुड़ (पूयं) पुडले (विक्कायमाणं) बेचा जानेवाला (पसढं) अधिक दिन का (रअेण) सचित्त रज से (परिफासिअं) खरंटित ।।७१-७२।। (बहुअट्ठिअं) अधिक कठिन बीजवाला (पुग्गलं) सीताफल (अणिमिसं) अनानास (बहुकंटयं) कांटे युक्त (अच्छियं) अस्तिक वृक्ष का फल (तिंदुअं) तिंदुक वृक्ष का फल (बिल्लं) बिल्व (सिंबलिं) शीमला फल (सिया) होवे (उज्जियधम्मिये) त्याज्य ।।७३-७४।। (वारधोअणं) गुड़ के घड़े को धोया हुआ पानी

(अदुवा) अथवा, या (संसेइमं) आटे का धोया हुआ पानी (अहुणाधोअं) तुरंत का धोया हुआ पानी, मिश्रण ।।७५।। (चिराधोयं) दीर्घ काल का धोया हुआ पानी (मइओ) सूत्रानुसारी बुद्धि से (भवे) होवे ।।७६।। (अह) अब (भविज्जा) होवे (आसाइत्ताण) चखकर (रोअए) निश्चय करे ।।७७।। (आसायणट्ठाओ) चखने के लिए (दलाहि) दो (अच्चंबिलं) अतिखट्टा (पूइं) खराब (नालं) समर्थ नहीं है (विणित्तओ) निवारण हेतु ।।७८।। (अकामेण) बिना इच्छा से (विमणेणं) वैमनस्कता से (पडिच्छियं) ग्रहण किया (अप्पणा) स्वयं (पिबे) पीओ (दावओ) दे, दिरावे ।।८०।। (एगंतं) एकांत में (अवक्कमित्ता) जाकर (परिठप्प) परठकर ।।८१।। (कुड्डगं) शून्य घर, मठ (भित्तिमूलं) भींत के पास (अणुन्नवित्तु) गृहस्थ की आज्ञा लेकर (पडिच्छन्नंमि) तृणादि से आच्छादित (संवुडे) उपयोग सहित (संपमज्जित्ता) अच्छी प्रकार पूंजकर ।।८२-८३।। (अट्ठिओ) कठिन बीज (सक्कर) कंकर (उक्खिवित्तु) उठाकर (निक्खिवे) दूर फेंके (आसओण) मुख से (न छड्डओ) न फेंके (गहेऊण) लेकर (अवक्कमे) जावे ।।८४-८५।। (सिज्जमागम्म) उपाश्रय में आकर (सपिंडपायं) शुद्ध भिक्षा लेकर (उंडुअं) भोजन करने के स्थल को।।८७।। (आयाय) बोलकर ।।८८।। (आभोइत्ता) जानकर (नीसेसं) सभी ।।८९।। (वीसमेज्ज) विश्रांति ले।।९३।। (हियमट्ठं) हितार्थ (लाभमट्ठिओ) लाभार्थी (अणुग्गहं) प्रसाद, उपकार (तारिओ) तारा हुआ ।।९४।। (सद्धिं) साथ में ।।९५।। (आलोए भायणे) प्रकाशवाले पात्र में ।।९६।। (अन्नत्थ पउत्तं) देहनिर्वाहार्थ ।।९७।। (सूइअं) शाकादि सहित (उल्लं) हरा (सुक्कं) शुष्क (मंथु) बोर चूर्ण (कुम्मास) उड़द के बाकले (उप्पन्नं) प्राप्त (नाइ) अधिक नहीं (हीलिज्जा) निंदा (मुहालद्धं) मुधाग्राही (मुहाजीवी) मुधाजीवी ।।९९।। (मुहादाइं) मुधादाता प्रत्युपकार की इच्छा बिना ।।१००।।

उद्देश्य दूसरा :

(पडिग्गहं) पात्र को (संलिहित्ताणं) अच्छी प्रकार साफकर ।।१।। (समावन्नो) रहा हुआ (अयावयट्ठा) संयम के निर्वाहार्थ (भूच्चाणं) आहार करके (संथरे) निर्वाह होता है।।२।। (पुव्वउत्तेणं) पूर्वोक्त (उत्तरेण) आगे कहे अनुसार।।३।। (संनिवेसं) ग्रामादि (गरिहसि) निंदा करता है।।५।। (सइकाले) समय होने पर (कुज्जा) करे (सोइज्जा) शोक करे (अहिआसओ) तप हुआ ऐसा चिंतन करे।।६।। (पाणा) प्राणि (उज्जुअं) सन्मुख ।।७।। (कत्थई) कहीं भी (पबंधिज्जा) करे (कहं) कथा (चिट्ठित्ताण) बैठकर ।।८।। (फलिह) फलक (अवलंबिआ) अवलंबन लेकर ।।९।। (किविणं) कृपण (वणीमगं) दरिद्र (उवसंकमंतं) जाते हुए ।।१०-१३।। (उप्पलं) नीलकमल (पउमं) रक्तकमल (कुमुअं) कुमुद (मगदंतिअं) मोगरा (संलुंचिया) छेदकर (संमद्दिआ) मर्दन कर।।१४-१७।। (सालुअं) कमलकंद (विरालिअं) पलाशकंद (नालिअं) नाल (मुणालिअं) कमल के तंतु (सासव) सरसव (तरूणगं) तरूण, नये (अनिव्वुडं) अपरिणत (पवालं) प्रवाल (रूक्खस्स) वृक्ष का।।१९।। (तरूणिअं) बिना दाने का (छिवाडिं) मुंग की फली (भज्जिअं) पकाई हुई मिश्र

।।२०।। (कोलं) बोर (अणुसिन्नं) न पकाया हो (वेलुअं) वंसकारेला (कासवनालिअं) सीवणवृक्ष का फल (पप्पडगं) पापड़ी।।२१।। (विअडं) कच्चा जल (तत्तनिव्वुडं) तीन उकाले बिना का जल (पूइ पिन्नागं) सरसव का खोल ।।२२।। (कविट्ठं) कोठफल (माउलिंगं) बीजोरा फल (मूलगं) मूला के अंग (मूलगत्तिअं) मूला का कंद (न पत्थअे) न मांगे (फलमंथूणि) बोर चूर्ण (बिअ मंथूणि) जवादि का आटा (बिहेलगं) बहेड़ा का फल (पियालं) चारोली के फल ।।२४।। (समुआणं) शुद्धभिक्षा हेतु (उसढं) धनाढ्य (नाभिधारअे) जावे नहीं ।।२५।। (अेसिज्जा) गवेषणा करे (विसीइज्ज) खेद करना (मायण्णे) मात्रज्ञ ।।२६।। (पच्चक्खे) प्रत्यक्ष।।२८।। (डहरं) युवान (महल्लगं) बड़े (वंदमाणं) वंदनकर्ता को (जाइज्जा) याचना (अणं) उसको (फरूसं) कठोर ।।२९।। (समुक्कसे) गर्व न करे (अन्नेसमाणस्स) जिनाज्ञा पालक (अणुचिट्ठइ) पाला जाता है ।।३०।। (विणिगूहइ) छुपाता है (मामेयं) मेरा यह (दाइअं) बताया (आयअे) ग्रहण करेगा (अत्तट्ठा) स्वयं का स्वार्थ (गुरुओ) बड़ा (दुत्तोसओ) जैसे-तैसे आहार से संतोषित न होनेवाला ।।३२।। (भद्दगं) अच्छा (विवन्नं) वर्णरहित (आहरे) लावे ।।३३।। (जाणंतु) जाने (ता) प्रथम (इमे) यह (आययट्ठी) आत्मार्थी (अयं) यह (लहुवित्ती) रूक्ष वृत्ति युक्त (सुतोसओ) अति संतोषी ।।३४।। (पसवई) उत्पन्न करे ।।३५।। (सुरं) मदिरा (मेरगं) महुए का दारू (मज्जगं) मादक (ससक्खं) साक्षी सहित (सारक्खं) संरक्षण ।।३६।। (पीयअे) पीता है (तेणो) चोर (पस्सह) देखो (निअडिं) माया को।।३७।। (सुंडिआ) आसक्ति (अनिव्वाणं) अशांति (असाहुआ) असाधुता।।३८।। (निच्चुविग्गो) नित्य उद्विग्न (अत्तकम्मेहिं) स्वकर्म से ।।३९।। (आवि) भी (ण) इसकी ।।४०।। (अगुणप्पेहि) अवगुण के स्थान को देखनेवाला ।।४१।। (अत्थ संजुत्तं) मोक्षार्थ युक्त ।।४३।। (वयतेणे) वचन चोर ।।४४।। (अेल) बकरा (मूअगं) मूकपना ।।४८।। (अणुमायं) अणुमात्र ।।४९।। (भिक्खेसण सोहिं) आहार गवेषणा की शुद्धि (सुप्पणिहिइंदिअे) समता भाव से पांच इंद्रियों को विषय विकार से रोक दी है (तिव्व लज्ज) अनाचार करने में तीव्र लज्जायुक्त (गुणवं) गुणवान् (विहरिज्जामि) तुम विचरना ।।५०।।

मुनि कैसे चलें?

संपत्ते भिक्खकालंमि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए।।१।।

सं.छा.: सम्प्राप्ते भिक्षाकाले, असम्भ्रान्तोऽमूर्च्छितः।
अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेषयेत् ।।१।।

भावार्थ : मुनि भिक्षा समय हो जाने पर असंभ्रात (अनाकुल) अमूर्च्छित अनासक्त रहते हुए आगे के श्लोकों में कहे जानेवाले क्रम योग से (विधि से) आहार पानी की गवेषणा करे।।१।।

से गामे वा नगरे वा, गोअरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेअसा ।।२।।

सं.छा.: **स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः।**
चरेन्मन्दमनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।।२।।

भावार्थ : ग्राम या नगर में भिक्षाचर्या हेतु मुनि को धीरे-धीरे अव्यग्रतापूर्वक एवं अव्याक्षिप्त चित्तपूर्वक चलना चाहिए ।।२।।

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीअहरियाइं, पाणे अ दगमट्टिअं।।३।।

सं.छा.: **पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत्।**
वर्जयन् बीजहरितानि, प्राणिन उदकं मृत्तिकां च।।३।।

भावार्थ : बीज, हरित्काय, जल, एवं सचित्त मिट्टी आदि जीवों को बचाते हुए साढ़े तीन हाथ प्रमाण आगे की भूमि को देखते हुए मुनि उपयोगपूर्वक चले ।।३।।

ओवायं विसमं खाणुं, विजलं परिवज्जए।
संकमेण न गच्छिज्जा, विज्जमाणे परक्कमे।।४।।

सं.छा.: **अवपातं विषमं स्थाणुं, विजलं परिवर्जयेत्।**
सङ्क्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रामेत्।।४।।

भावार्थ : चलते हुए मार्ग में खड्डे, स्तंभ, बिना पानी का किच्चड़ हो नदी आदि को पार करने के लिए पत्थर काष्ठ आदि रक्खा हो ऐसे प्रसंग पर दूसरा योग्य मार्ग मिल जाय तो उस मार्ग से साधु न जाये ।।४।। कारण दर्शाते हुए आगे कहा है -

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे।।५।।

सं.छा.: **प्रपतन् वा स तत्र, प्रस्खलन् वा संयतः।**
हिंस्यात् प्राणभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ।।५।।

भावार्थ : ऐसे मार्ग पर चलते हुए साधु गिर जाय या स्खलित हो जाय तो त्रस स्थावर जीवों की विराधना हो जाती है, और स्वयं के अंगोपांगों को चोंट पहुँचने की संभावना है। इस प्रकार उभय विराधना है ।।५।।

तम्हा तेण न गच्छिज्जा, संजए सुसमाहिए।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ।।६।।

सं.छा.: **तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः।**
सत्यन्यस्मिन् मार्गे, यतमेव पराक्रामेत्।।६।।

भावार्थ : इस कारण से समाधियुक्त जिनाज्ञा पालक साधु को जब तक शास्त्रोक्त मार्ग

मिल रहा हो तब तक ऐसे मार्ग पर न चले, जो दूसरा मार्ग न मिले तो जयणापूर्वक चले ।।६।।

इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं।
ससरक्खेहिं पाएहिं, संजओ तं नइक्कमे।।७।।

सं.छा.: आङ्गारं क्षारं राशिं, तुषराशिं च गोमयम्।
सरजस्काभ्यां पादाभ्यां, संयतस्तं नाक्रामेत्।।७।।

भावार्थ : सुसाधु मार्ग में चलते हुए अंगारों के, राख के, छिलकों के, गोबर के समूह पर सचित्त रज युक्त पैर से न चले ।।७।।

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए।
महावए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा।।८।।

सं.छा.: न चरेद्वर्षे वर्षति, महिकायां वा पतन्त्याम्।
महावाते वा वाति, तिर्यक्सम्पातिमेषु वा ।।८।।

भावार्थ : वर्षा हो रही हो, धुम्मस हो, वेगयुक्त वायु हो, रज उड़ रही हो, एवं संपातिम त्रसजीव उड़ रहे हों तो साधु गोचरी न जाये, जाने के बाद ऐसा हुआ हो तो योग्य स्थल पर रुक जाये ।।८।।

न चरेज्ज वेससामंते, बंभचेरवसाणुए।
बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसुत्तिआ।।९।।

सं.छा.: न चरेद् वेश्यासामन्ते, ब्रह्मचर्यावसानके।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य, भवेत्तत्र विस्रोतसिका ।।९।।

भावार्थ : सर्वोत्तम व्रत की रक्षा के लिए सूचना करते हुए सूत्रकार श्री कह रहे हैं कि-जहां ब्रह्मचर्य के नाश का संभव है, ऐसे वेश्यादि के गृह की ओर साधु को गोचरी के लिए नहीं जाना चाहिए। वहां जाने से उनके रुप-दर्शन के साथ उनकी कामोत्तेजक वेश भूषादि के कारण इंद्रियों का दमन करनेवाले ब्रह्मचारी के मन में विकार उत्पन्न हो सकता है।।९।।

अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं।
हुज्ज वयाणं पीला, सामण्णंमि अ संसओ।।१०।।

सं.छा.: अनायतने चरतः, संसर्गेणाभीक्ष्णम्।
भवेद् व्रतानां पीडा, श्रामण्ये च संशयः।।१०।।

भावार्थ : बार-बार वेश्यादि के रहने के स्थानों की ओर गोचरी जाने से उनकी ओर बार-बार नजर जायगी, कभी उनसे वार्तालाप रुप संसर्ग होगा, उससे महाव्रत में अतिचार लगेगा (कभी महाव्रत का भंग भी हो जाता है), लोगों में उसके चारित्र के विषय में शंकाएँ उत्पन्न होंगी ।।१०।।

तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वज्जए वेससामंतं, मुणी एगंतमस्सिए।।११।।

सं.छा.: तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम्।
वर्जयेद् वेश्यासामन्तं, मुनिरेकान्तमाश्रितः।।११।।

भावार्थ: इस कारण मोक्ष की एकमेव आराधना करनेवाले मुनि भगवंत दुर्गति वर्धक इस दोष को समझकर वेश्यादि स्त्रियाँ जहाँ रहती हों उस ओर गोचरी हेतु न जाये, उन स्थानों का त्याग कर दे ।।११।।

टी.वी., वीडियो, अंग प्रदर्शन एवं अर्द्धनग्नावस्था जैसे वस्त्र परिधान के युग में मुनि भगवंतों को गोचरी के लिए जाते समय अत्यंत अप्रमत्तावस्था की आवश्यकता का दिग्दर्शन ऊपर के तीन श्लोकों से हो रहा है ज्ञान-वय-एवं व्रत पर्याय से अपरिपक्व मुनियों को गोचरी जाते समय, गोचरी भेजते समय ऊपर के तीन श्लोकों के रहस्य को विचाराधीन रखना आवश्यक है।

इन तीन श्लोकों के शब्दार्थ को न देखकर उसके अंदर रहे हुए रहस्य को समझना आवश्यक है।

आज कितने ही मुनियों के भाव प्राणों का विनाश हो रहा है, अधःपतन हो रहा है एवं महाव्रतों का सर्वनाश होकर संसारी अवस्था प्राप्त कर रहे हैं उसके पीछे मूल कारण है इन तीन श्लोकों के रहस्यार्थ की ओर दुर्लक्ष्य।

सद्गुरु भगवंतों से इन तीन श्लोकों के रहस्यार्थ को समझकर जीवन यापन करने वाला गोचरी जानेवाला मुनि शास्त्रोक्त/आगमोक्त रीति से चारित्र पालन कर सकेगा।

साणं सूइअं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए।।१२।।

सं.छा.: श्वानं सूतिकां गां, दृप्तं गावं हयं गजम्।
सण्डिब्भं कलहं युद्धं, दूरतः परिवर्जयेत्।।१२।।

भावार्थ: गोचरी के लिए मार्ग में चलते समय श्वान, प्रसुता गौ (गाय), मदयुक्त वृषभ, अश्व, हस्ती, बालकों के क्रीड़ा का स्थान, इनको दूर से छोड़ देने चाहिए। अर्थात् ऐसे मार्ग पर से साधु को गोचरी नहीं जाना चाहिए ।।१२।।

मुनि कैसे चले?

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदिआइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ।।१३।।

सं.छा.: अनुन्नतो नावनतः, अप्रहृष्टोऽनाकुलः।
इन्द्रियाणि यथाभागं, दमयित्वा मुनिश्चरेत्।।१३।।

भावार्थ : मार्ग में जाते हुए साधुओं को ऊँचे, नीचे न देखना, स्निग्धादि गोचरी की प्राप्ति से हर्षित न बनना, न मिलने पर क्रोधादि से आकुल, व्याकुल न होना, स्वयं की इंद्रियों को अपने आधीन रखकर चलना ।।१३।।

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो अ गोअरे।
हसंतो नाभिगच्छिज्जा, कुलं उच्चावयं सया।।१४।।

सं.छा.: द्रुतं द्रुतं न गच्छेत्, भाषमाणश्च गोचरे।
हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा।।१४।।

भावार्थ : ऐश्वर्यादि की दृष्टि से ऊँच, नीच, मध्यम कुलों में गोचरी जाते समय शीघ्रतापूर्वक न चलना, भाषा का प्रयोग करते हुए न चलना, हंसते हुए भी नहीं चलना।।१४।।

आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि अ।
चरंतो न विनिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए।।१५।।

सं.छा.: आलोकं चितं द्वारं, सन्धिं दकभवनानि च।
चरेन्न विनिध्यायेत्, शङ्कास्थानं विवर्जयेद् ।।१५।।

भावार्थ : गोचरी हेतु गए हुए साधु को गृहस्थों के घर के वेंटीलेशन, बारी, द्वार (कमरे के द्वार आदि), चोर के द्वारा बनाये गये छेद, दीवार के भाग को, पानी रखने के स्थान को, इन स्थानों की ओर दृष्टि लगाकर नहीं देखना क्योंकि ये सब शंका के स्थान हैं।।१५।।

वर्तमान युग में बाथरुम, लेट्रीन, टी.वी., वीडियो रखने के स्थान की ओर नजर न जाये इसका पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

रण्णो गिहवईणं च, रहस्सारक्खियाण चं।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए।।१६।।

सं.छा.: राज्ञो गृहपतीनां च, रहःस्थानमारक्षकाणां च।
सङ्क्लेशकरं स्थानं, दूरतः परिवर्जयेत् ।।१६।।

भावार्थ : गोचरी गये हुए मुनि को राजा, गाथापति, ग्राम संरक्षक आदि नेताओं के गुप्त स्थान की ओर न देखना, न जाना एवं क्लेशकारक स्थानों का दूर से त्याग कर देना चाहिए। इस श्लोक में दर्शित स्थानों का दूर से त्याग न करे तो साधु विपत्तियों को आमंत्रण दे देता है।।१६।।

कैसे घरों में प्रवेश नहीं करे?

पडिकुट्ठकुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं।।१७।।

सं.छा.: प्रतिकुष्टकुलं न प्रविशेत्, मामकं परिवर्जयेद्।
अप्रीतिकुलं न प्रविशेत्, प्रीतिमत् प्रविशेत्कुलम्।।१७।।

भावार्थ : सूतके युक्त गृह, अस्पृश्य जाति के गृह, गृहपति द्वारा निषेध किये हुए घर, अप्रीति वाले घर इन घरों में गोचरी आदि के लिए मुनि प्रवेश न करें।

लोकनिंदा एवं शासन की अवहेलना के प्रसंग उपस्थित होने की संभावना के कारण ऐसे घरों में साधु गोचरी न जाये एवं इनके अलावा आगमोक्त सभी घरों में गोचरी जाय ।।१७।।

साणी-पावार-पिहिअं, अप्पणा नावपंगुरे।
कवाडं नोपणुल्लिज्जा, उग्गहंसि अजाइआ।।१८।।

सं.छा.: शाणीप्रावारपिहितं, आत्मना नापवृणुयात्।
कपाटं न प्रणोदयेद्, अवग्रहमयाचित्वा ।।१८।।

भावार्थ : आगाढ कारण से गृहपति से अवग्रह की याचना किये बिना, अविधिपूर्वक, धर्मलाभ का शब्दोचार किये बिना, ताड़पत्री, कंतान, वस्त्र आदि से आच्छादित घर के द्वार, लकड़ी के द्वार, लोहे की जाली आदि से बंद द्वार खोलना नहीं, धक्का देकर खोलना नहीं ।।१८।।

इससे यह सिद्ध होता है कि गृहस्थ के घर में उनकी अनुमति प्राप्त किये बिना मुनि प्रवेश नहीं कर सकता।

देह रक्षा हेतु उपयोगी विधान :-

गोअरग्गपविट्ठो अ, वच्चमुत्तं न धारए।
ओगासं फासुअं नच्चा, अणुन्नविअ वोसिरे।।१९।।

सं.छा.: गोचराग्रप्रविष्टस्तु, वर्चोमूत्रं न धारयेत्।
अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा, अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत्।।१९।।

भावार्थ : मूलमार्ग से तो गोचरी जाने के पूर्व लघुशंका बड़ीशंका का निवारण करना चाहिए। फिर भी शारीरिक कारणों से गोचरी जाने के बाद शंका हो जाय तो सूत्रकार कहते हैं कि - बड़ीनीति, लघुनीति की शंका को रोकना नहीं। गृहस्थ की आज्ञा लेकर निर्जीव भूमि पर शंका का निवारण करना, वोसिराना चाहिए ।।१९।।

सूत्रकार श्री ने साधुओं के आरोग्य को सुरक्षित रखने की दृष्टि से यह आदेश दिया है। लघुनीति, बड़ीनीति की शंका को रोकने से अजीर्ण का रोग उद्भव होता है। 'अजीर्णे प्रभवा रोगाः' अजीर्ण अनेक रोगों का जन्मस्थान है।

प्रवेश कहाँ करें?

णीअदुवारं तमसं, कुट्ठगं परिवज्जए।
अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा।।२०।।

सं.छा.: नीचद्वारं तामसं, कोष्ठकं परिवर्जयेत्।
अचक्षुर्विषयो यत्र, प्राणिनो दुष्प्रत्युपेक्षणीयाः।।२०।।

भावार्थ : जहां जिस घर का द्वार अति नीचे हो, झुककर जाना पड़ता हो, अंधकारयुक्त कोठार, भूमिगत (भाग) स्थान, कमरा आदि हो, वहां साधु गोचरी न जाय, कारण बताते हुए कहा कि (आँख) चक्षु से पूर्णरूप से पदार्थ दिखायी न दे, त्रसादिजीवों की जयणा न हो सके, ईर्यासमिति का पूर्ण पालन न हो सके द्वार नीचा होने से कहीं चोट लगना भी संभव है।।२०।।

जत्थ पुप्फाइं बीआइं, विप्पइन्नाइं कुट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं, दट्ठूणं परिवज्जए।।२१।।

सं.छा.: यत्र पुष्पाणि बीजानि, विप्रकीर्णानि कोष्ठके।
अधुनोपलिप्तमार्द्रं, दृष्ट्वा परिवर्जयेत्।।२१।।
एलगं दारगं साणं, वच्छगं वावि कुट्ठए।
उल्लंघिआ न पविसे, विउहित्ताण व संजए।।२२।।

सं.छा.: एडकं दारकं श्वानं, वत्सकं वाऽपि कोष्टके।
उल्लङ्घ्य न प्रविशेद्, व्यूह्य वा संयतः ।।२२।।

भावार्थ : जिस घर के द्वार में पुष्प, बीजादि बिखरे हुए हो, धान्य के दाने हो, तुरंत का लीपन आदि किया हो तो उस घर में, एवं एलग (घेटा), बालक, श्वान, बछड़ा आदि बैठा हुआ हो तो उसका उल्लंघनकर, उसको निकालकर या उसे उठाकर उस घर में प्रवेश न करें। गोचरी आदि हेतु न जायें ।।२१-२२।।

वर्तमान युग में अधिकांश से लींपन के स्थान पर फर्श धोने की प्रथा विशेष है अतः फर्श पानी से भिगी हुई हो तो प्रवेश न करें। तुरंत पोता किया हुआ हो तो अंदर न जाएं।

असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो।।२३।।

सं.छा.: असंसक्तं प्रलोकयेन्नातिदूरं प्रलोकयेत्।
उत्फुल्लं न विनिध्यायेत्, निवर्त्तेताजल्पन्।।२३।।

भावार्थ : गृहस्थ के घर में गोचरी वहोराते समय साधु को किस प्रकार रहना चाहिए उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि - स्त्री जाति पर आसक्ति भाव न लाकर स्वयं के कार्य का अवलोकन करना, घर में अति लम्बी नजर न करना, घर के लोगों को विकस्वर नजरों से न देखना, आहारादि न मिले तो दीन वचन नहीं बोलकर लौट जाना चाहिए ।।२३।।

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोअरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मिअं भूमिं परक्कमे ।।२४।।

सं.छा.: अतिभूमिं न गच्छेद्, गोचराग्रगतो मुनिः।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा, मितां भूमिं पराक्रामेत्।।२४।।

भावार्थ : मुनि को उत्तम कुल की नियमित भूमि की मर्यादा को जानकर गृहस्थ की अनुमति लेकर उतनी ही भूमि तक जाना। आगे जाना नहीं चाहिए ।।२४।।

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं विअक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए।।२५।।

सं.छा.: तत्रैव प्रत्युपेक्षेत, भूमिभागं विचक्षणः।
स्नानस्य च वर्चसः, संलोकं परिवर्जयेत् ।।२५।।

भावार्थ : मर्यादायुक्त भूमि तक गये हुए मुनि को भूमि का दृष्टि पडिलेहन के बाद खड़े रहते समय स्नानागार या बड़ीनीति का स्थान (बाथरुम या लेट्रीन) देखने में आते हो तो उस स्थान से शीघ्र दूर हो जाय। स्व पर भाव प्राणों की सुरक्षा हेतु इन नियमों का पालन अतीव आवश्यक है।।२५।।

दगमट्टियआयाणे, बीआणि हरिआणि अ।
परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदियसमाहिए।।२६।।

सं.छा.: उदकमृत्तिकादानं, बीजानि हरितानि च।
परिवर्जयंस्तिष्ठेत्, सर्वेन्द्रियसमाहितः।।२६।।

भावार्थ : जल एवं मिट्टी लाने के मार्ग को एवं वनस्पति के स्थान को छोड़कर, सभी इंद्रियों को समभाव में रखकर खड़ा रहना चाहिए ।।२६।।

कल्प्याकल्प्य विचार :-

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोअणं।
अकप्पिअं न गेण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअं।।२७।।
आहरंती सिया तत्थ, परिसाडिज्ज भोअणं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं।।२८।।
संमद्दमाणी पाणाणि, बीआणि हरिआणिअ।
असंजमकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए।।२९।।
साहट्टु निक्खिवित्ताणं सचित्तं घट्टिआणि च।
तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिआ।।३०।।
ओगाहइत्ता चलइत्ता, आहरे पाणभोअणं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं।।३१।।
पुरेकम्मेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।

दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं।।३२।।

सं.छा.: तत्र तस्य तिष्ठतः आहरेत्पानभोजनम्।
अकल्पिकं न गृह्णीयात्, प्रतिगृह्णीयात्कल्पिकम्।।२७।।
आहरन्ती स्यात्तत्र, परिशाटयेद् भोजनम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम्।।२८।।
सम्मर्दयन्ती प्राणिनो, बीजानि हरितानि च।
असंयमकरीं ज्ञात्वा, तादृशीं परिवर्जयेत्।।२९।।
संहृत्य निक्षिप्य, सचित्तं घट्टयित्वा च।
तथैव श्रमणार्थं, उदकं सम्प्रणुद्य ।।३०।।
अवगाह्य चालयित्वा, आहरेत्पानभोजनम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।३१।।
पुरःकर्मणा हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम्।।३२।।

भावार्थ : गोचरी वहोरने की विधि का विधान करते हुए सूत्रकार श्री कह रहे हैं कि - उस-उस कुल मर्यादा के उचित स्थान पर खड़े रहे हुए साधु को, गृहस्थ द्वारा लाये हुए आहार पानी में से अकल्प्य ग्रहण न कर कल्प्य हो वही लेना ।।२७।।

भूमि पर इधर-उधर दाने आदि गिराते हुए लाती हों तो बीज, हरी वनस्पति आदि को दबाती हुई, मर्दन करती हुई लाती हो तो साधु के लिए असंयम का कारण होने से, अकल्पनीय है ऐसा कहकर ग्रहण न करना ।।२८-२९।।

दूसरे बर्तन में निकालकर दे, नहीं देने लायक बर्तन में रहे हुए पदार्थ को सचित्त पदार्थ में रखकर दे, सचित्त का संघटनकर दे, साधु के लिए पानी को इधर-उधर कर के दे ।।३०।।

वर्षाकाल में गृहांगण में रहे हुए सचित्त पानी में से होकर आहार लाकर वहोरावे, सचित्त जल को बाहर निकालकर आहार वहोरावे, साधु को आहार वहोराने हेतु हस्त, चमच, बर्तन आदि धोने रूप पुरस्कर्मकर आहार वहोरावे, ऊपर दर्शित रीति से आहार वहोराने वाले को साधु स्पष्ट कहे कि इस प्रकार का आहार हमारे लिये अकल्प्य है। हमें लेना नहीं कल्पता ।।३१-३२।।

(एवं) उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिआउसे।
हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे।।३३।।
गेरुअवण्णिअसेढिअ,-सोरट्ठिअपिट्ठकुक्कुसकए अ।
उक्किट्ठमसंसट्ठे, संसट्ठे चेव बोधव्वे ।।३४।।
असंसट्ठेण हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।

दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे।।३५।।

सं.छा.: एवं उदकार्द्रेण सस्निग्धेन, सरजस्केन मृत्तिकोषाभ्याम्।
हरितालेनहिङ्गुलकेन, मनःशिलयाऽञ्जेनन लवणेन ।।३३।।
गैरिकावर्णिकाश्वेतिकासौराष्ट्रिकापिष्टकुक्कुसकृतेन।
उत्कृष्टमसंसृष्टः, संसृष्टश्चैव बोद्धव्यः। ।।३४।।
असंसृष्टेन हस्तेन दर्व्या भाजनेन वा।
दीयमानं नेच्छेत्, पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ।।३५।।

भावार्थ : इस प्रकार हाथ से जल झर रहा हो, जलाद्र हो, सचित्त रज युक्त हो, किचड़ युक्त हो, क्षार युक्त हो एवं हरताल हींगलो/मणसिल, अंजन, नमक, गेरू, पीलीमिट्टी खड़ी, फटकड़ी, तुरंत का गेहुं आदि का लोट, क्रौंच बीज, कलींगर आदि फल, शाक आदि से खरंटित हाथ से, या न खरंटित हांथ, चम्मच आदि से आहार वहोरावे तो न ले। पश्चात् कर्म नामक दोष के कारण ।।३३-३५।।

संसट्ठेण य हत्थेण, दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे।।३६।।

सं.छा.: संसृष्टेन च हस्तेन, दर्व्या भाजनेन वा।
दीयमानं प्रतीच्छेद्, यत्तत्रैषणीयं भवेत्।।३६।।

भावार्थ : जो आहार पॉनी निर्दोष हो तो, अन्नादि से लिप्त हाथ, चम्मच या अन्य बर्तन में लेकर दे तो ग्रहण करना। पूर्वकर्म एवं पश्चात्कर्म न लगे इस प्रकार आहार ग्रहण करना. ।।३६।।

दुण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए ।।३७।।
दुण्हं तु भुंजमाणाणं, दोऽवि तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं पडिच्छिज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ।।३८।।

सं.छा.: द्वयोस्तु भुञ्जतोः, एकस्तत्र निमन्त्रयेत्।
दीयमानं नेच्छेत्, छन्दं तस्य प्रत्युपेक्षेत ।।३७।।
द्वयोस्तु भुञ्जानयो,-र्द्वावपि तत्र निमन्त्रयेयाताम्।
दीयमानं प्रतीच्छेद्, यत्तत्रैषणीयं भवेत्।।३८।।

भावार्थ : पदार्थ के दो मालिक में से एक निमंत्रण करे और दूसरे के नेत्र विकारादि से वहोराने के भाव दिखायी न दे तो न ले। दोनों के वहोराने के भाव हो और आहार निर्दोष हो तो ग्रहण करें ।।३७-३८।। इन दो श्लोकों से यह स्पष्ट हो रहा है कि पदार्थ के मालिकभाव पूर्वक वहोराने पर भी वह पदार्थ निर्दोष न हो तो ग्रहण नहीं करना

चाहिए। केवल वहोराने वाले के भाव ही नहीं देखने हैं, पदार्थ की निर्दोषता भी देखनी आवश्यक है।

गुव्विणीओ उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए।।३९।।
सिआ य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए ।।४०।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआईक्खे, न मे कप्पइ तारिसं।।४१।।

सं.छा.: गुर्विण्या उपन्यस्तं, विविधं पानभोजनम्।
भुज्यमानं विवर्जयेत्, भुक्तशेषं प्रतीच्छेत् ।।३९।।
स्याच्च श्रमणार्थं, गुर्विणी कालमासिनी।
उत्थिता वा निषीदेद्, निषन्ना वा पुनरुत्तिष्ठेद् ।।४०।।
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।४१।।

भावार्थ : गर्भवती स्त्री के लिए विविध भोजन तैयार किये हुए हो वह आहार न ले, पर उसके खाने के बाद अधिक हो तो ग्रहण कर सकता है।।३९।।

कभी पूर्ण मासवाली अर्थात् नौंवे महिनेवाली गर्भवती स्त्री साधु को वहोराने के लिए खड़ी हो तो बैठ जाय या बैठी हो तो खड़ी हो जाय तो उसके हाथ से आहार लेना न कल्पे ।।४०।। (परन्तु वह बैठी हो उसके पास आहार/पदार्थ हो और बैठी-बैठी वहोराये तो लेना कल्पे।)

गर्भवती का भोजन एवं गर्भवती द्वारा दिये जानेवाले आहार के लिए साधु निषेध करे कि ऐसा आहार लेना हमें नहीं कल्पता ।।४१।।

थणगं पिज्जेमाणी, दारगं वा कुमारिअं।
तं निक्खिवित्तु रोअंतं, आहरे पाणभोअणं।।४२।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआईक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।४३।।
जं भवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पंमि संकिअं।
दिंतिअं पडिआईक्खे, न मे कप्पइ तारिसं।।४४।।
दगवारेण पिहिअं, नीसाए पीढएण वा।
लोढेण वा वि लेवेण, सिलेसेण व केणई ।।४५।।
तं च उब्भिंदिउं दिज्जा, समणट्ठाए व दावए।
दिंतिअं पडिआईक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।४६।।

सं.छा.: स्तनकं पाययन्ती, दारकं वा कुमारिकाम्।
तन्निक्षिप्य रुदद्, आहरेत्पानभोजनम् ।।४२।।
तद्भवेद् भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।४३।।
यद्भवेद् भक्तपानं तु, कल्पाकल्पयोः शङ्कितम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम्।।४४।।
दकवारेण पिहितं, नीशया(पेषण्या) पीठकेन वा।
लोढेन वापि लेपेन, श्लेषेण वा केनचित् ।।४५।।
तच्चोद्भिद्य-दद्या, च्छ्रमणार्थं वा दायकः ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।४६।।

भावार्थ: स्तनपान करवाती हुई माता बालक को छोड़कर वहोराये तो जिस आहार पानी में निर्दोष है या सदोष ऐसी शंका हो तो, आहार पानी, पानी के घड़े से चटनी आदि जिस पत्थर पर लोढ़ी जाती है उस पत्थर से, काष्ठ पीठ से, चटनी जिससे बनायी जाती है, उस शीलापुत्रकेण अर्थात् उस छोटे शीलाखंड से, मिट्टी, लाक्ष आदि के लेप से ढंके हुए, बंध किये हुए बर्तन से ढक्कन आदि दूर कर, लेप आदि निकालकर वहोरावे तो मुनि मना करे कि मुझे ऐसा आहार नहीं कल्पता ।।४२-४६।।

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, दाणट्ठापगडं इमं ।।४७।।
तारिसं भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।४८।।
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं ।।४९।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।५०।।
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, वणिमट्ठा पगडं इमं ।।५१।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।५२।।
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, समणट्ठा पगडं इमं ।।५३।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।५४।।

सं.छा.: अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयाच्छ्रुणुयाद्वा, दानार्थं प्रकृतमिदम् ।।४७।।
तादृशं भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।४८।।
अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात्, शृणुयाद्वा पुण्यार्थं प्रकृतमिदम्।।४९।।
तद् भवेद् भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।५०।।
अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयाद् शृणुयाद्वा, वनीपकार्थं प्रकृतमिदम्।।५१।।
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम्।।५२।।
अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयाद्, शृणुयाद्वा श्रमणार्थं प्रकृतमिदम्।।५३।।
तद् भवेद् भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम्।।५४।।

भावार्थ : स्वयं ने जान लिया हो, सुन लिया हो कि गृहस्थ ने अशन, पान खादिम स्वादिम रूप चारों प्रकार का आहार दान देने के लिए, पुण्य के लिए, भिक्षाचरों के लिए, या श्रमण भगवंतों के लिए बनाया है तो वहोराने वाले को कह दे कि यह आहार अकल्पनीय होने से हमें नहीं कल्पता ।।४७-५४।।

उद्देसियं कीअगडं, पूइकम्मं च आहडं।
अज्झोअर पामिच्चं, मीसजायं, विवज्जए।।५५।।

सं.छा.: औद्देशिकं क्रीतकृतं, पूतिकर्म्म चाहृतम्।
अध्यवपूरकं प्रामित्यं, मिश्रजातं विवर्जयेद् ।।५५।।

भावार्थ : मुनिओं को वहोराने के उद्देश्य से बनाया हो, खरीदकर लाया हो, शुद्ध आहार में आधाकर्मादि आहार का संमिश्रण किया हो, सामने लाया हुआ हो, साधुओं को आये जानकर बनते हुए आहार में वृद्धि की गयी हो ऐसा आहार, एवं वहोराने के लिए मांगकर लाया हो, अदलबदलकर लाया हो, उधार लाया हो, साधु श्रावक दोनों के लिए मिश्ररूप में बनाया हो तो ऐसा आहार मुनि को छोड़ देना चाहिए। ग्रहण न करना।।५५।।

उग्गमं से अ पुच्छिज्जा, कस्सट्ठा केण वा कडं?।
सुच्चा निस्संकिअं सुद्धं, पडिगाहिज्ज संजए ।।५६।।

सं.छा.: उद्गमं तस्य च पृच्छेत्, कस्यार्थं केन वा कृतम्?।
श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धं, प्रतिगृह्णीयात् संयतः ।।५६।।

भावार्थ : आहार की निर्दोषता, सदोषता हेतु गृहस्थ से प्रश्न करे कि यह आहार किसके लिए और किसने बनाया है। उसका प्रत्युत्तर संतोषजनक हो एवं, निर्दोषता सिद्ध होती हो वह आहार ग्रहण करना ।।५६।।

असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
पुप्फेसु हुज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ।।५७।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।५८।।
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
उदगंमि हुज्ज निक्खित्तं, उत्तिंगपणगेसु वा।।५९।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।६०।।
असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
तेउम्मि हुज्ज निक्खित्तं, तं च संघट्टिआ दए।।६१।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।६२।।
एवं उस्सक्किया ओसक्किया उज्जालिया पज्जालिया,
निव्वाविया उस्सिंचिया,
निस्सिंचिया उववत्तिया ओयारिया दए ।।६३।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।६४।।

सं.छा.: अशनं पानकं वापि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वा ।।५७।।
तद् भवेद् भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।५८।।
अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
उदके भवेन्निक्षिप्तं, उत्तिङ्गपनकेषु वा ।।५९।।
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।६०।।
अशनं पानकं वाऽपि, खाद्यं स्वाद्यं तथा।
तेजसि भवेन्निक्षिप्तं, तच्च सङ्घट्ट्य दद्याद् ।।६१।।

तद् भवेद् भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।६२।।
एवमुत्सिच्यापसर्प्य, उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य।
निर्वाप्योत्सिच्य निषिच्यापवर्त्यावतार्य दद्याद् ।।६३।।
तद् भवेद् भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।६४।।

भावार्थ : चारों प्रकार का आहार पुष्प-बीज आदि हरी वनस्पति से मिश्र हो, सचित्त जल पर हो, चिंटिओं के दर पर हो, अग्नि पर, एवं अग्नि से संघट्टित हो, अग्नि में काष्ठ डालते हुए, निकालते हुए एक बार या बार-बार ऐसा करते हुए, बुझाते हुए, एक बार या बार-बार काष्ठ आदि चूल्हे में डालते हुए, अग्नि पर से कुछ अनाज निकालते हुए, पानी आदि का छिटकाव करते हुए, अग्नि पर रहे हुए आहारादि को अन्य पात्र में लेकर वहोराये या वही बर्तन नीचे लेकर वहोराये अर्थात् सचित्त जल, अग्नि, त्रस काय एवं वनस्पति की किसी भी प्रकार से विराधना करते हुए वहोराये अथवा उपलक्षण से पृथ्वीकाय एवं वाउकाय की विराधनाकर वहोराये तो साधु, कह दे कि यह आहार हमें नहीं कल्पता ।।५७-६४।।

हुज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया।
ठविअं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं ।।६५।।

सं.छा.: भवेत्काष्ठं शिला वाऽपि, इष्टालं वाऽपि एकदा।
स्थापितं सङ्क्रमार्थं, तच्च भवेच्चलाचलम् ।।६५।।

भावार्थ : चातुर्मास में या अन्य दिनों में भी पानी भराव वाले स्थान पर चलने के लिए काष्ठ, पत्थर की शीला या ईट के टुकड़े आदि रक्खे हो, वे अस्थिर हो तो उस मार्ग पर साधु भगवंतों को चलना नहीं ।।६५।। कारण दर्शाते हुए कहा है कि -

ण तेण भिक्खू गच्छिज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विंदियसमाहिए ।।६६।।

सं.छा.: न तेन भिक्षुर्गच्छेत्, दृष्टस्तत्रासंयमः।
गम्भीरं शुषिरं चैव, सर्वेन्द्रियसमाहितः ।।६६।।

भावार्थ : ऊपर दर्शित मार्ग पर चलने से चारित्र विराधना होती है ऐसा जिनेश्वरों ने देखा है। और शब्दादि विषयों में समाधि युक्त मुनि को अंधकार में रहे हुए और अंदर पोकल (खोखला) ऐसे काष्ठ आदि पर भी नहीं चलना ।।६६।।

निस्सेणिं फलगं पीढं, उस्सवित्ताणमारुहे।
मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठा एव दावए ।।६७।।

दुरूहमाणी पवडिज्जा, हत्थं पायं व लूसए।
पुढविजीवे विहिंसिज्जा, जे अ तन्निस्सिया जगे ।।६८।।
एआरिसे महादोसे, जाणिउण महेसिणो।
तम्हा मालोहडं भिक्खं, न पडिगिण्हंति संजया ।।६९।।

सं.छा.: निःश्रेणिं फलकं पीठं, उत्सृत्यारोहेत्।
मञ्चं कीलं च प्रासादं, श्रमणार्थमेव दायकः ।।६७।।
आरोहन्ती प्रपतेत्, हस्तं पादं च लूषयेत्।
पृथ्वीजीवान् विहिंस्यात्, यानि च तनिश्रितानि जगन्ति ।।६८।।
ईदृशान् महादोषान्, ज्ञात्वा महर्षयः।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां, न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ।।६९।।

भावार्थ : साधु को दान देने हेतु दाता ऊपर चढने के लिए या ऊपर से पदार्थ लेने के लिए, नीसरणी, टेबल, पटीया, खूंटी आदि के सहारे से चढे और कभी गिर जाय हाथ, पैर टूट जाय, चोंट लग जाय उस स्थान पर रहे हुए पृथ्वीकायादि जीवों की विराधना होने का संभव होने से महापुरुष ऐसे महादोषों को बताकर मालापहृत आहार ग्रहण नहीं करते ।।६७-६९।।

कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च, आमगं परिवज्जए।।७०।।
तहेव सत्तुचुण्णाइं कोलचुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणिअं पूअं, अन्नं वावि तहाविहं ।।७१।।
विक्कायमाणं पसढं, रएणं परिफासिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।७२।।
बहुअट्ठियं पुग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं।
अच्छियं तिंदुयंबिल्लं, उच्छुखंडं व सिंबलिं ।।७३।।
अप्पे सिआ भोअणज्जाए, बहुउज्झियधम्मियं।
दिंतिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।७४।।

सं.छा.: कन्दं मूलं प्रलम्बं वा, आमं छिन्नं वा सन्निरम्।
तुम्बाकं शृङ्गबेरं च, आमकं परिवर्जयेद् ।।७०।।
तथैव सक्तुचूर्णान्, कोलचूर्णान् आपणे।
शष्कुलीं फाणितं पूतं, अन्यद्वापि तथाविधम् ।।७१।।
विक्रीयमाणं प्रसह्य, रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।७२।।

बहुस्थिकं पुद्गलं, अनिमिषं वा बहुकण्टकम्।
अस्थिकं तेन्दुकं बिल्वं, इक्षुखण्डं वा शाल्मलिम् ।।७३।।
अल्पं स्याद्भोजनजातं, बहूज्झितधर्म्मकमेतत्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।७४।।

भावार्थ : सूरणादि कंद, मूल, ताल आदि फल, सचित्त छेदन किया हुआ पत्रादि सब्जी, तुंब (दुधी) अद्रक आदि सचित्त पदार्थ, उसी प्रकार साथवा का चूर्ण, बोर का चूर्ण, तिलपापड़ी, नरम गुड़, पुड़ले और दूसरा भी उसी प्रकार का बाजारु पदार्थ, अनेक दिनों का रक्खा हुआ, सचित्त रज से युक्त, जिसमें खाना थोड़ा फेंकना अधिक जैसे सीताफल आदि अनानास नामक फल, अधिक कांटेदार फल, अस्थिक फल, तिंदुक फल, बील्वफल, इक्षु के टुकड़े, शाल्मली के फल, आदि पदार्थ, दाता वहोरावे तो ऐसे सचित्त पदार्थ एवं अधिक भाग बाहर फेंकना पड़े ऐसा पदार्थ साधु को नहीं कल्पता। ऐसा देने वालों से कह दे।

तहेवुच्चावयं पाणं, अदुवा वारधोवणं।
संसेइमं चाउलोदगं, अहुणाधोअं विवज्जए ।।७५।।
जं जाणेज्ज चिराधोयं, मइए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सुच्चा वा, जं च निस्संकिअं भवे ।।७६।।
अजीवं परिणयं नच्चा, पडिगाहिज्ज संजए।
अह संकियं भविज्जा, आसाइत्ताण रोअए ।।७७।।
थोवमासायणट्ठाए, हत्थगंमि दलाहि मे।
मा मे अच्चंबिलं पूअं, नालं तण्हं विणित्तए ।।७८।।
तं च अच्चंबिलं पूयं नालं तण्हं विणित्तए।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।७९।।
तं च होज्ज अकामेण, विमणेणं पडिच्छिअं।
तं अप्पणा न पिबे, (च) नोवि अन्नस्स दावए।।८०।।
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ।
जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ।।८१।।

सं.छा.: तथैवोच्चावचं पानं, अथवा वारकधोवनम्।
संस्वेदजं तन्दुलोदकं, अधुनाधौतं विवर्जयेत् ।।७५।।
यज्जानीयाच्चिरधौतं, मत्या दर्शनेन वा।
पृष्ट्वा (गृहस्थं) श्रुत्वा वा, यच्च निःशङ्कितं भवेत् ।।७६।।
अजीवं परिणतं ज्ञात्वा, प्रतिगृह्णीयात्संयतः।
अथ शङ्कितं भवेत्, आस्वाद्य रोचयेत् ।।७७।।

स्तोकमास्वादनार्थं, हस्तके देहि मे।
मा मे अत्यम्लं पूतिं, नालं तृष्णाविनिवृत्तये ।।७८।।
तच्चात्यम्लं पूतिं, नालं तृष्णानिवृत्तये।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।७९।।
तच्च भवेदकामेन, विमनस्केन प्रतीप्सितम्।
तदात्मना न पिबेच्च, नाप्यन्येभ्यो दापयेत् ।।८०।।
एकान्तमवक्रम्य, अचित्तं प्रतिलेख्य।
यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत्।।८१।।

भावार्थ : अशन के जैसा पानी भी वर्णादि गुण युक्त ऊँच अर्थात् पूर्ण निर्दोष हो, वर्णादि से ऊँच अर्थात् द्राक्षादि का जल, वर्णादि से हीन कांजी आदि का पानी, गुड़ के घड़े का धोया हुआ पानी, आटे का, चाँवल का धोया पानी, सचित्त हो वहां तक न लें। दीर्घकाल का धोया हुआ देखने से एवं पूछने से शंकारहित श्रुतानुसार निर्दोष हो तो ग्रहण करें। उष्णादि जल अजीव अर्थात् अचित्त बना हुआ हो तो लेना एवं शंका हो तो उसकी परीक्षाकर लेने का निर्देश देते हुए कहा है कि 'दाता से कहे मुझे उसका स्वाद परखने के लिए थोड़ा-सा जल दो, अतीव खट्टा दुर्गंधयुक्त हो तो, तृषा छिपाने में समर्थ न होने से ऐसा अति खट्टा दुर्गंधयुक्त पानी देनेवाले दाता से मना करे, ऐसा पानी हमें नहीं कल्पता। कभी दात्रा के आग्रह से या भूल से (मन का पूर्ण उपयोग न रहने से) ऐसा जल आ गया हो तो, वह जल पीना नहीं; दूसरों को देना नहीं। एकान्तस्थल में जाकर अचित्त भूमि पर चक्षु से पड़िलेहनकर जयणापूर्वक परठना चाहिए। उपाश्रय में आकर इरियावही करनी चाहिए ।।७५-८१।।

गोचरी कब कैसे करें?

सिआ अ गोयरग्गगओ, इच्छिज्जा परिभुत्तुअं।
कुट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुअं ।।८२।।
अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नंमि संवुडे।
हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ।।८३।।
तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठिअं कंटओ सिआ।
तणकट्ठसक्करं वावि, अन्नं वावि तहाविहं ।।८४।।
तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डए।
हत्थेण तं गहेऊण, एगंतमवक्कमे ।।८५।।
एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिआ।
जयं परिट्ठविज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ।।८६।।

सं.छा.: स्याच्च गोचराग्रगत, इच्छेत् परिभोक्तुम्।

कोष्टकं भित्तिमूलं वा, प्रतिलेख्य प्रासुकम् ।।८२।।
अनुज्ञाप्य मेधावी, प्रतिच्छन्ने संवृते।
हस्तकं सम्प्रमृज्य, तत्र भुञ्जीत संयतः ।।८३।।
तत्र तस्य भुञ्जानस्य, अस्थिकं कण्टकः स्यात्।
तृणकाष्ठशर्करं वाऽपि, अन्यद्वापि तथाविधम् ।।८४।।
तदुत्क्षिप्य न निक्षिपेद्, आस्येन नोज्झेत्।
हस्तेन तद्गृहीत्वा, एकान्तमवक्रामेत् ।।८५।।
एकान्तमवक्रम्य, अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य।
यतं परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य प्रतिक्रामेत् ।।८६।।

भावार्थ : गोचरी के लिए अन्य ग्राम में गया हुआ साधु, मार्ग में क्षुधा तृषादि से पीड़ित होकर आहार करना चाहे तो किसी शून्य गृह, मठ, गृहस्थ के घर आदि में दीवारादि का एक भाग सचित्त पदार्थ से रहित पडिलेहनकर, अनुज्ञा लेकर आच्छादित स्थान में इरियावहीपूर्वक आलोचनाकर, मुहपत्ति से शरीर की प्रमार्जनाकर, अनासक्त भाव से आहार करे। आहार करते समय दाता के प्रमाद से बीज, कंटक, तृण, काष्ठ का टुकड़ा, कंकर, या ऐसा कोई न खाने योग्य पदार्थ आ जाय तो हाथ से फेंकना नहीं, मुँह से थूंकना नहीं पर हाथ में लेकर एकान्त में जाना, वहां अचित्त भूमि की पडिलेहनकर, उसे परठना, परठने के बाद इरियावही करना ।।८२-८६।।

उपाश्रय में गोचरी करने की विधि :-

सिआ य भिक्खू इच्छिज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुअं।
सपिंडपायमागम्म, उंडुअं पडिलेहिआ ।।८७।।
विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ अ पडिक्कमे ।।८८।।
आभोइत्ताण नीसेसं, अईआरं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव, भत्तपाणे व संजए ।।८९।।
उज्जुप्पण्णो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहिअं भवे ।।९०।।
न सम्ममालोइअं हुज्जा, पुव्विं पच्छा व जं कडं।
पुणो पडिक्कमे तस्स, वोसट्ठो चिंतए इमं ।।९१।।
अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिआ।
मुक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ।।९२।।
नमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं।
सज्झायं पट्ठवित्ताणं, वीसमेज्ज खणं मुणी ।।९३।।

सं.छा.: स्याच्च भिक्षुरिच्छेत्, शय्यामागम्य परिभोक्तुम्।
सह पिण्डपातेनागम्य, उन्दुकं प्रत्युपेक्ष्य ।।८७।।
विनयेन प्रविश्य, सकाशे गुरोर्मुनिः।
ईर्यापथिकामादाय, आगतश्च प्रतिक्रामेद् ।।८८।।
आभोगयित्वा निःशेषं, अतिचारं यथाक्रमम्।
गमनागमनयोश्चैव, भक्तपानयोश्च संयतः ।।८९।।
ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
आलोचयेद् गुरुसकाशे, यद्यथागृहीतं भवेत् ।।९०।।
न सम्यगालोचितं भवेत्, पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम्।
पुनः प्रतिक्रामेत् तस्य, व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम् ।।९१।।
अहो! जिनैरसावद्या, वृत्तिः साधूनां देशिता।
मोक्षसाधनहेतोः, साधुदेहस्य धारणाय ।।९२।।
नमस्कारेण पारयित्वा, कृत्वा जिनसंस्तवम्।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य, विश्राम्येत् क्षणं मुनिः ।।९३।।

भावार्थ : उपाश्रय में आने के बाद मुनि आहार करने की इच्छावाला हो तब लाया हुआ निर्दोष आहार करने के स्थान का प्रमार्जन करे 'इसके पूर्व निसीहि' नमोखमासमणाणं कहते हुए विनयपूर्वक उपाश्रय में प्रवेश करें। गुरु भगवंत के पास आकर इरियावही प्रतिक्रमण करे, कायोत्सर्ग में गोचरी जाते आते, आहार पानी लेने में क्रमशः जो अतिचार लगे हों उसे याद करें, सरलमतियुक्त, अव्यग्रचित्त युक्त, अव्याक्षिप्त चित्तयुक्त, जैसा जिस प्रकार से आहार पानी ग्रहण किया हो वैसा गुरु भगवंत से कहें, अनुपयोग से पूर्वकर्म, पश्चात् कर्म आदि की जो-जो आलोचना सम्यक् प्रकार से न हुई हो उस हेतु पुनश्च (गोअरचरिया के पाठ पूर्वक) आलोचना करें एवं काउस्सग्ग में चिंतन करें कि 'अहो! श्री तीर्थंकर भगवंतों ने मोक्ष साधना के हेतु भूत और साधु के देह निर्वाहार्थ ऐसी निरवद्य वृत्ति बतायी है' फिर नमो अरिहंताणं से कायोत्सर्ग पारकर लोगस्स कहकर सज्झायकर, मार्ग के श्रम निवारणार्थ विश्राम करें ।।८७-९३।।

देह की स्वस्थता हेतु विश्राम करना यह अतीवोपयोगी नियम है। विश्राम करने से आहार संज्ञा की तृष्णा को अल्पावधि तक रोकना एवं श्रम दूर होने से पाचन तंत्र का व्यवस्थित रहना यह आत्मिक एवं भौतिक दोनों प्रकार से लाभदायक है।

निमंत्रण देना :-

विस्समंतो इमं चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ।।९४।।
साहवो तो चियत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं।

जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ।।९५।।

सं.छा.: विश्राम्यन्निदं चिन्तयेद् हितमर्थं लाभार्थिकः।
यदि मे अनुग्रहं कुर्युः, साधवः स्यामहं तारितः ।।९४।।
साधुंस्ततो मनःप्रीत्या, निमन्त्रयेद् यथाक्रमम्।
यदि तत्र केचनेच्छेयुः, तैः सार्धं तु भुञ्जीत ।।९५।।

भावार्थ : विश्राम करते हुए विचार चिंतन करें कि इस आहार में से कोई मुनिभगवंत आहार ग्रहणकर मुझे अनुग्रहित करें तो मैं भवसागर से पार करवाया हुआ बनुं अर्थात् यह अनुग्रह मुझे भवसागर पार करने में उपयोगी बनें। गुरु भगवंत की आज्ञा लेकर सभी साधुओं को निमंत्रण करें जो कोई उसमें से ग्रहण करे तो उनको देने के बाद उनके साथ बैठकर आहार करें ।।९४-९५।।

आहार कैसे करें ?

अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एगओ।
आलोए भायणे साहू, जयं अपरिसाडियं ।।९६।।
तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एयलद्धमन्नट्ठ-पउत्तं, महुघयं व भुंजिज्ज संजए ।।९७।।
अरसं विरसं वावि, सूइअं वा असूइअं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथुकुम्मास भोअणं ।।९८।।
उप्पण्णं नाइहीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुअं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसवज्जिअं ।।९९।।

सं.छा.: अथ कश्चिन्नेच्छेत्, ततो भुञ्जीतैककः।
आलोके भाजने साधुः, यतं अपरिशाटयन् ।।९६।।
तिक्तकं वा कटुकं वा कषायं, अम्लं वा मधुरं लवणं वा।
एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तं, मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः ।।९७।।
अरसं विरसं वाऽपि, सूचितं वाऽसूचितम्।
आर्द्रं वा यदि वा शुष्कं, मन्थुकुल्माषभोजनम् ।।९८।।
उत्पन्नं नातिहीलयेत्, अल्पं वा बहु प्रासुकम्।
मुधालब्धं मुधाजीवी, भुञ्जीत दोषवर्जितम् ।।९९।।

भावार्थ : जब कोई मुनि भगवंत आहार ग्रहण न करे तो प्रकाश युक्त पात्र (चौड़े पात्र) में जयणापूर्वक हाथ में से या मुँह में से कण न गिरे, इस प्रकार अकेला आहार करें। उस समय वह आहार कटु हो, तीक्त हो, कषायला हो, खट्टा हो, मधुर हो, खारा हो तो भी देह निर्वाहार्थ, मोक्ष साधनार्थ आहार मुझे मिला है ऐसा जानकर उस आहार को मधुर

घृत युक्त मानकर या घृत जैसा प्रवाही पदार्थ शीघ्र ले लिया जाता है, उसी प्रकार आहार के स्वाद की ओर लक्ष न देकर, **बाई दायी दाढों में संचालन किये बिना, पेट में डाल देना चाहिए।** वह आहार संस्कार से रहित हो, या पूर्वकाल का विरस हो, सब्जी सहित हो या सब्जी रहित हो, सब्जी अल्प या अधिक हो, तुरंत का बना हुआ हो या शुष्क खाखरे आदि हो, बोर का भुक्का हो, उड़द के बाकुले हो, परिपूर्ण हो या अल्प हो और वह असार हो तो भी आगमोक्त विधि अनुसार प्राप्त निर्दोष **आहार की निंदा न करनी। गृहस्थ/दाता का कोई भी कार्य किये बिना** (मंत्र तंत्र औषधादि से उपकार किये बिना) प्राप्त किया हुआ है एवं स्वयं की **जाति कुल शिल्प आदि बताकर** निदानरहित **मुधाजीवी** की तरह से प्राप्त किया है अतः आगमोक्त साधु को संयोजनादि पांच दोष का आसेवन किये बिना आहार करना चाहिए ।।९६-९९।।

दुर्लभ कौन है?

दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दोऽवि गच्छंति सुग्गइं ।।१००।।
।।त्ति बेमि।। पिंडेसणाए पढमो उद्देसो समत्तो ।।१।।

सं.छा.: दुर्लभास्तु मुधा दातारः, मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः।
मुधादातारो मुधाजीविनः, द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ।।१००।।
।। इति ब्रवीमि।। पिण्डैषणायाः प्रथम उद्देशः समाप्तः ।।१।।

भावार्थ : किसी भी प्रकार से प्रत्युपकार लेने की भावना से रहित निःस्वार्थी दाता दुर्लभ है उसी प्रकार मंत्र तंत्रादि से चमत्कार बताए बिना, दाता पर भौतिक उपकार करने की भावना से रहित, स्वधर्मपालन में निमग्न निःस्वार्थी ग्रहणकर्ता मुनि भी दुर्लभ है। **मुधाजीवी** निष्काम भाव से देनेवाला, एवं एकमेव मोक्षार्थ जीवन यापन करनेवाला **मुधाजीवी** मुनि ये दोनों सुगति में जाते हैं।।१००।।

श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी मनक मुनि से कहते हैं कि ऐसा श्री महावीरस्वामीजी ने श्री सुधर्मास्वामी से कहा श्री सुधर्मास्वामी ने श्री जम्बूस्वामी से कहा वैसा मैं कहता हूँ।

❋ ❋ ❋

द्वितीय उद्देशः

पडिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाए संजए।
दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डए।।१।।

सं.छा.: प्रतिग्रहं संलिख्य, लेपमर्यादया संयतः।
दुर्गन्धि वा सुगन्धि वा, सर्वं भुञ्जीत नोज्झेत् ।।१।।

भावार्थ : साधु को आहार करते समय आहार सुगंधी हो या दुर्गंधी जितना हो उतना आहार करना चाहिए, उसमें से अंश मात्र त्याग न करें ।।१।।

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो अ गोअरे।
अयावयट्ठा भुच्चाणं, जह तेणं न संथरे ।।२।।
तओ कारणमुप्पण्णे, भत्तपाणं गवेसए।
विहिणा पुव्वउत्तेणं, इमेणं उत्तरेण य ।।३।।

सं.छा.: शय्यायां नैषधिक्यां, समापन्नश्च गोचरे।
अयावदर्थं भुक्त्वा, यदि तेन न संस्तरेत् ।।२।।
ततः कारणे उत्पन्ने, भक्तपानं गवेषयेत्।
विधिना पूर्वोक्तेन, अनेनोत्तरेण च ।।३।।

भावार्थ : उपाश्रय या स्वाध्याय भूमि में रहे हुए या गोचरी गये हुए मुनिभगवंत को आहार करने से क्षुधा शांत न हुई हो, उतने आहार से निर्वाह न हो रहा हो तो, पूर्व में दर्शायी हुई विधि से एवं आगे कही जानेवाली विधि से कारण उपस्थित होने से दूसरी बार आहारार्थ गोचरी जा सकता है। आहार पानी की गवेषणा करें ।।२-३।।

विवेचन : मुनि भगवंत को मूल विधि अनुसार एक बार ही आहार पानी के लिए गोचरी जाने का विधान है। आहार की पूर्णता न हुई हो, क्षुधा वेदनीय की उपशांतता न हुई हो, स्वाध्यायादि योग में स्वस्थता, चित्त की एकाग्रता न रहती हो तो पुनः गोचरी जाने का विधान दर्शाया है। ये विधान निर्दोष गोचरी की आवश्यकता को प्रकट कर रहे हैं।

गोचरी जाने का समय :-

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ।।४।।
अकाले चरसि भिक्खू, कालं न पडिलेहसि।
अप्पाणं च किलामेसि, सन्निवेसं च गरिहसि ।।५।।

सं.छा.: कालेन निष्क्रामेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रामेत्।
अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत् ।।४।।
अकाले चरसि भिक्षो! कालं न प्रत्युपेक्षसे।
आत्मानं च क्लमयसि, सन्निवेशं च गर्हसि ।।५।।

भावार्थ : ग्रामानुग्राम विहार करने वाले मुनि को जिस ग्राम में जिस समय आहार की प्राप्ति सुलभ हो उस समय गोचरी के लिए जाना एवं स्वाध्याय करने के समय के पूर्व स्वस्थान में आ जाना। अकाल के समय को छोड़कर जिस समय जो कार्य करना है उस समय वही कार्य करना यही आचारांग सूत्र दर्शित मुनि का कालज्ञ विशेषण हैं ।।४।।

विपरीत समय पर गोचरी जानेवाले को सूत्रकार श्री उपालंभ देते हुए कहते हैं

कि - हे मुनि! तूं गोचरी के समय को न देखकर अकाल में गोचरी जाता है, अधिक देर घूमना पड़ता है, आत्मा को किलामना होती है, चित्त चंचल बनता है, आहार की प्राप्ति न होने से ग्राम की, ग्राम निवासियों की निंदा करता है ।।५।।

गोचरी के समय गोचरी न जाने से आत्म विडंबना होती है।

तपोवृद्धि :-

सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं।
अलाभुत्ति न सोएज्जा, तवुत्ति अहिआसए ।।६।।

सं.छा.: सति काले चरेद् भिक्षुः, कुर्यात् पुरुषकारम्।
अलाभ इति न शोचयेद्, तप इत्यधिसहेत ।।६।।

भावार्थ : अकाल में गोचरी जाने से दोषों की उत्पत्ति होती है, अतः समय पर गोचरी जावे, स्वयं के पुरुषार्थ को प्रयोग में लें, फिर भी न मिले तो शोक न करें एवं चिंतन करें कि 'आज तप में वृद्धि हुई' इस प्रकार क्षुधा सहन करें ।।६।।

मार्ग में विशेष जयणा :-

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया।
तं उज्जुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ।।७।।

सं.छा.: तथैवोच्चावचाः प्राणिनो, भक्तार्थं समागताः।
तदृजुकं न गच्छेद्, यतमेव पराक्रामेद् ।।७।।

भावार्थ : गोचरी के लिए जाते समय मार्ग में दाना चुगते हुए कबुतर आदि प्राणी दिखायी दें तो उनके सन्मुख न जाकर उनको दाना चुगना बंद नहीं करना पड़े इस प्रकार जयणा से चलें ।।७।।

धर्मकथा न करें :-

गोयरग्गपविट्ठो अ, न निसीइज्ज कत्थई।
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ।।८।।

सं.छा.: गोचराग्रप्रविष्टश्च, न निषीदेत् क्वचिद्।
कथां च न प्रबध्नीयात्, स्थित्वा वा संयतः ।।८।।

भावार्थ : गोचरी के लिए गया हुआ साधु कहीं आसन लगाकर बैठे नहीं एवं न कहीं पर धर्मकथा कहे। ऐसा करने से अनेषणा एवं द्वेषादि का दोष होता है ।।८।।

खड़े कैसे रहना?

अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वावि संजए।
अवलंबिआ न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।।९।।
समणं माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ।।१०।।

तं अइक्कमित्तु न पविसे, न चिट्ठे चक्खुगोयरे।
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ।।११।।
वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा।
अप्पत्तिअं सिआ हुज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ।।१२।।

सं.छा.: अर्गलां परिघं द्वारं, कपाटं वाऽपि संयतः।
अवलम्ब्य न तिष्ठेद्, गोचराग्रगतो मुनिः ।।९।।
श्रमणं ब्राह्मणं वापि, कृपणं वा वनीपकम्।
उपसङ्क्रामन्तं भक्तार्थं, पानार्थं वा संयतः ।।१०।।
तमतिक्रम्य न प्रविशेन्नापितिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे।
एकान्तमवक्रम्य, तत्र तिष्ठेत्संयतः ।।११।।
वनीपकस्य वा तस्य, दायकस्योभयस्य वा।
अप्रीतिः स्याद्भवेद्, लघुत्वं प्रवचनस्य वा ।।१२।।

भावार्थ : गोचरी गये हुए साधु को गृहस्थ के घर के द्वार, शाख, अर्गला, फलक, दिवार आदि का सहारा लेकर खड़ा नहीं रहना। गृहस्थ को शंका हो जाने के कारण, प्रवचन की लघुता, जीव विराधना आदि होने का संभव है।

श्रमण, ब्राह्मण, कृपण, याचक इन चार में से कोई भी अर्थात् गृहस्थ के घर पर मांगनेवाला, याचना करनेवाला कोई भी खड़ा हो, अंदर जा रहा हो या आ रहा हो तो उसका उल्लंघन करके गृहस्थ के घर में न जाना एवं उन याचकादि की दृष्टि में न आये ऐसे एकान्त स्थल में खड़े रहना। ऐसा न करे तो लेने-देने वाले दोनों को अप्रीति का कारण एवं जिनशासन की लघुता निंदादि का कारण होता है। (अगर वे मुनि को देख लें एवं वे कह दे महाराज आप पधारो एवं दाता भी बुलावे तो जाने में कोई दोष नहीं) ।।९-१२।।

पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए।
उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ।।१३।।

सं.छा.: प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा, ततस्तस्मिन् निवर्त्तिते।
उपसङ्क्रामेद्भक्तार्थं पानार्थं वाऽपि संयतः ।।१३।।

भावार्थ : याचकादि को गृहस्थ ने दे दिया हो या निषेधकर दिया हो एवं वे घर से लौट गये हो तो साधु गृहस्थ के घर में आहार पानी के लिए जावें ।।१३।।

वनस्पतिकाय की जयणा :-

उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संलुंचिआ दए ।।१४।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।

दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।१५।।
उप्पलं पउमं वावि, कुमुअं वा मगदंतिअं।
अन्नं वा पुप्फसच्चित्तं, तं च संमद्दिआ दए ।।१६।।
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पिअं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।१७।।

सं.छा.: उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम्।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं, तच्च संलुञ्च्य दद्याद् ।।१४।।
तद्भवेद्भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।१५।।
उत्पलं पद्मं वाऽपि, कुमुदं वा मगदन्तिकाम्।
अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं, तच्च सम्मृद्य दद्यात् ।।१६।।
तद्भवेद्भक्तपानं तु, संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।१७।।

भावार्थ : उत्पल, पभ, कुमुद, मेहंदी, मालती आदि दूसरे सचित्त पुष्पों का छेदनकर, संमर्दनकर दाता आहार पानी वहोराने लगे तो मुनि कह दे, ऐसा आहार पानी हमें नहीं कल्पता ।।१४-१७।।

कैसा आहार न लें?

सालुअं वा विरालिअं, कुमुअं उप्पलनालिअं।
मुणालिअं सासवनालिअं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं ।।१८।।
तरुणगं वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा।
अन्नस्स वावि हरिअस्स, आमगं परिवज्जए ।।१९।।
तरुणिअं वा छिवाडिं, आमिअं भज्जिअं सइं।
दिंतिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।२०।।
तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेलुअं कासवनालिअं।
तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए ।।२१।।
तहेव चाउलं पिट्ठं, विअडं वा तत्तनिव्वुडं।
तिलपिट्ठ पूइपिन्नागं, आमगं परिवज्जए ।।२२।।
कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलगत्तिअं।
आमं असत्थपरिणयं, मणसावि न पत्थए।।२३।।
तहेव फलमंथूणि, बीअमंथूणि जाणिअ।
बिहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ।।२४।।

सं.छा.: शालूकं वा विरालिकां, कुमुदमुत्पलनालिकम्।
मृणालिकां सर्षपनालिकां, इक्षुखण्डमनिर्वृत्तम् ।।१८।।
तरुणकं वा प्रवालं, रुक्षस्य तृणकस्य वा।
अन्यस्य वाऽपि हरितस्य, आमकं परिवर्जयेद् ।।१९।।
तरुणां वा छिवाडिं, आमां भर्जितां सकृद्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मे कल्पते तादृशम् ।।२०।।
तथा कोलमस्विन्नं, वेलुकं काश्यपनालिकम्।
तिलपर्पटकं नीमं, आमकं परिवर्जयेद् ।।२१।।
तथैव तान्दुलं पिष्टं, विकटं [वितटं] वा तप्तनिर्वृत्तम्।
तिलपिष्टं पूतिपिण्याकं, आमकं परिवर्जयेद् ।।२२।।
कपित्थं मातुलिङ्गं च, मूलकं मूलवर्त्तिकाम्।
आमामशस्त्रपरिणतां, मनसाऽपि न प्रार्थयेद् ।।२३।।
तथैव फलमन्थून्, बीजमन्थून् ज्ञात्वा।
बिभीतकं प्रियालं वा, आमकं परिवर्जयेद् ।।२४।।

भावार्थ : सचित्त उत्पल कंद, पलाशकंद, कुमुदनाल, पद्मकंद, सरसव की डाली, इक्षु के टुकड़े, वृक्ष, तृण एवं हरितादि के सचित्त नये प्रवालादि। जिन में बीज उत्पन्न नहीं हुए हैं ऐसी मुंग आदि की कच्ची फलियाँ, सामान्य से भुंजी हुई मिश्र फलियाँ आदि। बोर, बांस, कारेला, सीवण वृक्ष का फल, तिलपापड़ी, नीमवृक्ष के सचित्त फल आदि। चाँवल का आटा (तुरंत का), कच्चा पानी, तीन उकाले आये बिना का पानी, तिल का आटा, सरसव का सामान्य कूटा हुआ खोल। कच्चे कोठे के फल, बीजोरू, मूला के पत्ते, मूला के कंद, बोर का चूर्ण, जवादि का आटा, बहेड़ा का फल, चारोली और अचित्त हुए बिना कोई भी पदार्थ, दाता वहोराये तो मुनि कह दे कि ऐसा आहार हमें नहीं कल्पता एवं मुनि मन से ऐसा विचार भी न करे कि मैं ऐसा पदार्थ ग्रहण करूं ।।१८-२४।।

सभी सुकुलों में गोचरी जाना :-

समुआणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ।।२५।।

सं.छा.: समुदानं चरेद् भिक्षुः, कुलमुच्चावचं सदा।
नीचं कुलमतिक्रम्य, उत्सृतं नाभिधारयेद् ।।२५।।

भावार्थ : निर्दोष आहारार्थ हेतु आवश्यकतानुसार सदा समृद्धिवाले, मध्यम एवं साधारण घरों में जो निंदनीय न हो ऐसे घरों में जाना। पर मार्ग में गरीब साधारण व्यक्ति का घर छोड़कर धनाढ्य समृद्धिवाले घर में ही नहीं जाना ।।२५।।

अदीन वृत्ति :-

अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोअणंमि, मायण्णे एसणारअे ।।२६।।
बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा।।२७।।
सयणासणवत्थं वा, भत्तं पाणं वा संजए।
अदिंतस्स न कुप्पिज्जा, पच्चक्खे वि अ दीसओ ।।२८।।

सं.छा.: अदीनो वृत्तिमेषये, -न्न विषीदेत् पण्डितः।
अमूर्च्छितो भोजने, मात्रज्ञ एषणारतः ।।२६।।
बहु परिगृहेऽस्ति, विविधं खाद्यं स्वाद्यम्।
न तत्र पण्डितः कुप्येत्, इच्छया दद्यात्परो न वा ।।२७।।
शयनासनवस्त्रं वा, भक्तं पानं वा संयतः।
अददतो न कुप्येत्, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ।।२८।।

भावार्थ : आहार में अमूर्च्छित मुनि, स्वयं के आहार के परिमाण का ज्ञाता मात्रज्ञ, और निर्दोष एषणा में निमग्न ऐसा मात्रज्ञ ज्ञानी मुनि आहार पानी न मिलने पर अदीन वृत्ति से गवेषणा करें। गृहस्थ के घर पर अनेक प्रकार की खाद्य-स्वाद्य सामग्री रहती है, पर वह न वहोराये तो ज्ञानी साधु उस पर क्रोधित न हो, वह इच्छापूर्वक वहोराये तो वहोरना, नहीं तो नहीं। गृहस्थ के घर में प्रत्यक्ष दिखायी देते शयन, आसन, वस्त्र एंवं आहार पानी जो गृहस्थ न दे तो उस पर साधु क्रोध न करें ।।२६-२८।।

वंदनकर्ता से याचना का निषेध :-

इत्थिअं पुरिसं वावि, डहरं वा महल्लगं।
वंदमाणं न जाइज्जा, नो अ णं फरुसं वए ।।२९।।

सं.छा.: स्त्रियं पुरुषं वाऽपि, डहरं वा महल्लकम्।
वन्दमानं न याचेत, न चैनं परुषं वदेत् ।।२९।।

भावार्थ : स्त्री, पुरूष, युवान या वृद्ध हो उस वंदनकर्ता के पास साधु किसी पदार्थ की याचना न करें। याचना करने से उसके भाव टूट जाते हैं। कारण होने पर योग्य व्यक्ति से याचना करने पर भी पदार्थ के अभाव में न वहोराये तो उसे कठोर वचन न कहे। पदार्थ न वहोराने से तेरा वंदन निष्फल है, कायकष्ट है, तुझे कोई लाभ नहीं ऐसा न कहे।

वंदन न करे तो क्रोध न करें :-

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स, सामण्णमणुचिट्ठई ।।३०।।

सं.छा.: यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्, वन्दितो न समुत्कर्षेत्।
एवमन्वेषमाणस्य, श्रामण्यमनुतिष्ठति ।।३०।।

भावार्थ : गृहस्थ वंदना न करे तो कुपित न बनें एवं राजा, राजपुरुष आदि वंदना करें तो गर्व धारण न करें। इस प्रकार जिनाज्ञा पालक साधु निरतिचार चारित्र का पालन कर सकता है।

सिआ एगइओ लद्धुं, लोभेण विणिगूहइ।
मामेयं दाइअं संतं, दट्ठूणं सयमायए ।।३१।।
अत्तट्ठा गुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ।
दुत्तोसओ अ सो होइ, निव्वाणं च न गच्छइ ।।३२।।
सिआ एगइओ लद्धुं, विविहं पाणभोअणं।
भद्दगं भद्दगं भुच्चा, विवन्नं विरसमाहरे ।।३३।।
जाणंतु ता इमे समणा, आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवई पंतं, लूहवित्ती सुतोसओ ।।३४।।
पूअणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए।
बहुं पसवई पावं, मायासल्लं च कुव्वई ।।३५।।

सं.छा.: स्यादेको लब्ध्वा, लोभेन विनिगूहते।
मा ममेदं दर्शितं सद् दृष्ट्वा स्वयमादद्याद् ।।३१।।
आत्मार्थगुरुर्लुब्धो, बहु पापं प्रकरोति।
दुस्तोषश्च स भवति, निर्वाणं च न गच्छति ।।३२।।
स्यादेको लब्ध्वा, विविधं पानभोजनम्।
भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा, विवर्णंविरसमाहरेद् ।।३३।।
जानन्तु तावन्मां श्रमणा, आयतार्थी अयं मुनिः।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं, रूक्षवृत्तिः सुतोषकः ।।३४।।
पूजनार्थं यशस्कामी, मानसन्मानकामः।
बहु प्रसूते पापं, मायाशल्यं च करोति ।।३५।।

भावार्थ : सरस आहार में लुब्ध साधु पापार्जन कैसे करता है उसका स्वरूप बताते हैं, कदाच कोई एक साधु सरस आहार को लाकर लोभासक्त बन, नीरस आहार से उसे छिपा दे, क्योंकि सरस आहार बताऊंगा तो वे गुरु आदि ग्रहण कर लेंगे? स्वयं के भौतिक स्वार्थ को मुख्य माननेवाला रसलुब्ध साधु विशेष पापार्जन करता है इस भव में वह जैसे-तैसे आहार से संतुष्ट नहीं होता और इसी कारण से वह मोक्ष निर्वाण प्राप्त नहीं करता। कदाचित् कोई साधु गोचरी में प्राप्त सरस आहार को मार्ग में ही खाकर, निरस आहार स्वस्थान पर लावे ऐसा मानकर कि दूसरे साधु ऐसा समझेंगे कि यह साधु

आत्मार्थी, संतोषी, अंतप्रांत भोजी, रूक्ष वृत्ति युक्त और सुखपूर्वक संतुष्ट हो सके ऐसा है। ऐसा साधु पूजार्थी, यशार्थी, मान सन्मार्थी, मायाशल्य का सेवन करने से विशेष पापार्जन करता है ।।३१-३५।।

अभक्ष्य सेवी साधु :-

सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं।
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो ।।३६।।
पियए एगओ तेणो, न मे कोइ विआणइ।
तस्स पस्सह दोसाइं, निअडिं च सुणेह मे ।।३७।।
वड्ढई सुंडिआ तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो।
अयसो अ अनिव्वाणं, सययं च असाहुआ ।।३८।।
निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई।
तारिसो मरणंतेवि, न आराहेइ संवरं ।।३९।।
आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसे।
गिहत्थावि णं गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं ।।४०।।
एवं तु अगुणप्पेही, गुणाणं च विवज्जए।
तारिसो मरणंतेऽवि, ण आराहेइ संवरं ।।४१।।
तवं कुव्वइ मेहावी, पणीअं वज्जए रसं।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो ।।४२।।

सं.छा.: सुरां वा मेरकं वाऽपि, अन्यं वा माद्यकं रसम्।
ससाक्षिकं न पिबेद्भिक्षु-र्यशः संरक्षन्नात्मनः ।।३६।।
पिबत्येकः स्तेनो, न मां कोऽपि विजानाति।
तस्य पश्यत दोषान्, निकृतिं च शृणुत मम ।।३७।।
वर्धते शौण्डिका तस्य, मायामृषावादं च भिक्षोः।
अयशश्चानिर्वाणं, सततं चासाधुता ।।३८।।
नित्योद्विग्नो यथा स्तेनः, आत्मकर्म्मभिर्दुर्मतिः।
तादृशो मरणान्तेऽपि, नाराधयति संवरम् ।।३९।।
आचार्यान्नाराधयति, श्रमणांश्चापि तादृशान्।
गृहस्था अप्येनं गर्हन्ते, येन जानन्ति तादृशम् ।।४०।।
एवं त्वगुणप्रेक्षी, गुणानां च विवर्जकः।
तादृशो मरणान्तेऽपि, नाराधयति संवरम् ।।४१।।
तपः करोति मेधावी, प्रणीतं वर्जयति रसं।
मद्यप्रमादविरत-स्तपस्वी अत्युत्कर्षः ।।४२।।

भावार्थ : स्वयं के संयमरूपी यश की सुरक्षा रखनेवाले मुनि को ससाक्षी अर्थात् केवलज्ञानी भगवंत ने निषेध किया हुआ जवपिष्टादि की मदिरा, महुआ की मदिरा और अन्य किसी प्रकार का मादक रस पीना नहीं। जो कोई साधु जिनाज्ञा का चोर होकर, मुझे कोई नहीं जानता है, ऐसा सोचकर/मानकर, एकान्त स्थल में मदिरा पान करता है। उपलक्षण से आगम में निषिध व्यवहार से निषिध पदार्थों का सेवन करता है। (हे शिष्यों! मैं तुम्हें) उसके दोष एवं उनके द्वारा की हुई माया का किस्सा सुनाता हूं। उसे श्रवण करो।

मदिरापान कर्ता मुनि की आसक्ति की वृद्धि होती है। पूछने पर मैंने मदिरापान नहीं किया ऐसा असत्य बोलता है जिससे उसे माया मृषावाद का पाप लगता है। स्वपक्ष श्रमणसंघ, परपक्ष गृहस्थादि में अपयश फैलता है। कभी-कभी मदिरादि न मिले तो अतृप्ति रहती है चारित्र में विशेष विराधना होने से लोगों में निरंतर असाधुता का प्रसार/प्रचार होता है।

जैसे चोर स्वकर्म से सदा उद्विग्न रहता है वैसे वह संक्लिष्ट चित्तयुक्त दुर्मति साधु मरणान्त तक भी संवर की आराधना नहीं कर सकता।

ऐसा साधु दुराचारी होने से वह आचार्यादि की, बाल, ग्लान आदि साधुओं की सेवादि नहीं कर सकता। और गृहस्थ लोग भी उसकी निंदा करते हैं, कारण कि उसके आचार को वे जानते हैं।

इसलिए अवगुण के स्थान को देखनेवाला, गुण के स्थान का वर्जक क्लिष्ट चित्तयुक्त मरणान्त तक तपस्वी, मदरहित ऐसे साधुओं को स्निग्ध घृतादि से युक्त प्रणित आहार एवं मदिरापानादि प्रमाद का त्यागकर तपश्चर्या करनी चाहिए।।३६-४२।।

आचार पालन के लाभ :-

तस्स पस्सह कल्लाणं, अणेगसाहुपूइअं।
विउलं अत्थसंजुत्तं, कित्तइस्सं सुणेह मे ।।४३।।
एवं तु सगुणप्पेही, अगुणाणं च विवज्जए।
तारिसो मरणंतेऽवि, आराहेइ [अ] संवरं ।।४४।।
आयरिए आराहेइ, समणे आवि तारिसे।
गिहत्थावि णं पूयंति, जेण जाणंति तारिसं ।।४५।।

सं.छा.: **तस्य पश्यत कल्याणं, अनेकसाधुपूजितम्।**
विपुलमर्थसंयुक्तं, कीर्तयिष्ये शृणुत मे ।।४३।।
एवं तु स गुणप्रेक्षी, अगुणानां च विवर्जकः।
तादृशो मरणान्तेऽपि, आराधयति संवरम् ।।४४।।
आचार्यानाराधयति, श्रमणांश्चापि तादृशः।

गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति, येन जानन्ति तादृशम् ।।४५।।

भावार्थ : पूर्वोक्त गुणयुक्त साधु के गुणसंपत्ति से युक्त संयम चारित्र को तुम देखो, कि जो अनेक साधुओं से सेवित, विस्तीर्ण और मोक्षार्थ सहित है। सूत्रकार श्री कहते हैं कि उसका वर्णन मैं करता हूँ तुम सुनो ।।४३।।

अप्रमादि गुण को देखनेवाला और प्रमादादि अवगुण का त्यागी, ऐसे शुद्धाचार का पालन करनेवाला संवर की आराधना मरणान्त तक करता है ।।४४।।

ऐसे गुण युक्त साधु आचार्यादि की सेवा करता है। उनकी आज्ञा का पालन करता है और उसके शुद्ध आचार को जानते हुए गृहस्थ उसकी पूजा करते हैं। अर्थात् उसका मान सन्मान करते हैं ।।४५।।

किल्बिष देव कौन बनता है?

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे।
आयारभावतेणे अ, कुव्वई देवकिव्विसं ।।४६।।
लद्धूणवि देवत्तं, उववन्नो देवकिव्विसे।
तत्थावि से न याणाइ, किं मे किच्चा इमं फलं ।।४७।।
तत्तोवि से चइत्ताणं, लब्भिही एलमूअगं।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ।।४८।।

सं.छा.: तपःस्तेनो वचःस्तेनो, रूपस्तेनश्च यो नरः।
आचारभावस्तेनश्च, करोति देवकिल्बिषम् ।।४६।।
लब्ध्वापि देवत्वं, उपपन्नो देवकिल्बिषे।
तत्राप्यसौ न जानाति, किं मे कृत्वेदं फलम् ।।४७।।
ततोऽप्यसौ च्युत्वा, लप्स्यते एलमूकताम्।
नरकं तिर्यग्योनिं वा, बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ।।४८।।

भावार्थ : तप, वचन, रुप, आचार एवं भाव चोर ये पांचों प्रकार के चोर चारित्र का शुद्ध पालन करते हुए भी किल्बिष देव भव में उत्पन्न होते हैं, किल्बिष देव भव प्राप्त हो जाने के बाद वहां भी निर्मल अवधिज्ञान न होने से वे यह नहीं जानते कि मैंने ऐसा कौन-सा अशुभ कार्य किया जिससे मुझे किल्बिष देव भव मिला।

वह साधु वहां से देव भवायु पूर्णकर मनुष्यादि भव में बकरे के जैसा मुकपना प्राप्त करेगा और परंपरा से नरक तिर्यंचादि की योनि को प्राप्त करेगा। जहां जैनधर्म की, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है ।।४६-४८।।

आगमोक्त तप न कर स्वयं को तपस्वी मानने मनवानेवाला **तपचोर**, आगमोक्त ज्ञान न होने पर एवं स्वयं शास्त्रोक्त व्याख्याता न होने पर भी स्वयं को ज्ञानी एवं व्याख्याता मानने, मनवानेवाला **वचनचोर**, स्वयं राजकुमार आदि न होते हुए भी

किसी के पूछने पर मौन धारणकर्ता **रूपचोर**, स्वयं आचारहीन होते हुए भी आचारवान् मानने, मनवानेवाला **आचारचोर** एवं आत्मरमणता न होते हुए भी स्वयं को अध्यात्मिक पुरुष मानने, मनवानेवाला **भावचोर**। इन पांच प्रकार के चोरों की यह संक्षिप्त व्याख्या है।

माया-मृषावाद का त्याग :-

एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासिअं।
अणुमायंपि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ।।४९।।

सं.छा.: एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
अणुमात्रमपि मेधावी, मायामृषावादं विवर्जयेद् ।।४९।।

भावार्थ : साध्वाचार का पालन करने पर भी किल्बिष देव होने रूप दोषों को देखकर ज्ञातनंदन श्री महावीर परमात्मा ने कहा है कि हे बुद्धिवान् मेधावी साधु! अंशमात्र भी माया मृषावाद सेवन का त्याग कर ।।४९।।

साध्वाचार का पालन करनेवाला माया करता है, असत्य बोलता है, उसकी यह दशा श्री महावीर परमात्मा ने कही है। तो **जो साध्वाचार का पालन ही न करे एवं माया मृषावाद का सेवन करे उसकी क्या दशा होगी!**

उपसंहार :-

सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं, संजयाण बुद्धाण सगासे।
तत्थ भिक्खु सुप्पणिहिइंदिए,
तिव्वलज्जगुणवं विहरिज्जासि।।५०।। त्ति बेमि ।।
समत्तं पिंडेसणानामज्झयणं पंचमं ।।५।।

सं.छा.: शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं, संयतेभ्यो बुद्धेभ्यः सकाशात्।
तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रिय,-स्तीव्रलज्जो गुणवान् विहरेत् ।।५०।।
इति ब्रवीमि।।
समाप्तं पिण्डैषणानामाध्ययनं पञ्चमम् ।।५।।

भावार्थ : सूत्रकार श्री पिण्डैषणा अध्ययन की समाप्ति के समय कह रहे हैं कि "तत्त्व के जानकार तत्त्वज्ञ संयमयुक्त गुरु आदि के पास पिण्डैषणा की शुद्धि को सीखकर, उस एषणासमिति में पांचों इन्द्रियों से उपयोगी बनकर एवं अनाचारादि सेवन में तीव्रलज्जा युक्त होकर, पूर्व में कहे हुए साधु गुणों को धारण कर विचरें। ऐसा श्री महावीर परमात्मा द्वारा कहा हुआ परंपरा से प्राप्त मैं कहता हूँ।" ।।५०।।

६ महाचार कथा नामक षष्ठं अध्ययनम्

संबंध - पांचवें अध्ययन में एषणा समिति का विस्तृत विवेचन देकर गोचरी गये हुए साधु को किसी के द्वारा पूछा जाय कि महाराज आपका आचार कैसा है? तब साधु कहे कि हमारे गुरु महाराज उपाश्रय में बिराजमान हैं उनके पास जाकर हमारे आचार का ज्ञान प्राप्त करें। प्रश्नकर्ता गुरु महाराज से साध्वाचार विषयक प्रश्न का समाधान करते हैं। इस संबंध से अब महाचार कथा नामक अध्ययन का प्रारंभ करते हैं।

महाचार कथा के उपयोगी शब्दार्थ :- (गणिम्) आचार्य (उज्जाणंमि) उद्यान में (समोसढं) पधारे हुए (रायमच्चा) राज्य प्रधान (निहुअप्पाणो) निश्चल मन से हाथ जोड़कर (भे) भगवंत (आयार गोयरो) आचार विषय ।।१-२।। (निहुओ) असंभ्रान्त (आइक्खइ) कहे ।।३।। (धम्मत्थ कामाणं) धर्म का प्रयोजन मोक्ष, उसको चाहने वाले (दुरहिट्ठियं) दुष्कर आश्रय करने योग्य ।।४।। (नन्नत्थ) दूसरे स्थान पर नहीं (एरिसं) ऐसा (वुत्तं) कहा हुआ (दुच्चर) दुष्कर (विउलट्ठाणभाइस्स) संयम स्थान सेवी ।।५।। (सखुड्डगविअत्ताणं) बालक एवं वृद्ध साधुओ को (कायव्वा) करना (अखंडफुडिआ) देश-सर्व विराधना रहित ।।६।। (जाइं) जिसे (अवरज्जइ) विराधता है (तत्थ अन्नेयरे) उसमें से एक भी (निग्गंथत्ताउ) निर्ग्रंथ रूप से (भस्सइ) भ्रष्ट होता है।।७।। (अजाइया) अयाचित (दंत सोहणमित्तं) दांत साफ करने की सली भी ।।१४।। (भेआययण वज्जिणो) चरित्र में अतिचार से भयभीत ।।१६।। (अहम्मस्स) अधर्म पाप (समुस्सयं) बड़े दोषों का ।।१७।। (बिडं) पका हुआ नमक (उब्भेइमं) समुद्रीनमक (फाणिअं) नरम गुड़ (वओरया) वचन में रक्त ।।१८।। (अणुफासे) महिमा (अन्नयरामवि) किंचित् भी (कामे) सेवे इच्छे (ताइणा) त्राता ।।२१।। (उवहिणा) उपधि की अपेक्षा से (ममाइयं) ममत्व को ।।२२।। (लज्जासमा) संयम अविरोधी ।।२४।। (उदउल्लं) जलाद्र (निवडिआ) पडे हो ।।२५।। (तयस्सिए) उनकी निश्रा में ।।२८।। (जायतेअं) उत्पन्न होते ही तेजस्वी (जलइत्तए) ज्वलन करने (अन्नयरं) सभी तरफ से धारयुक्त ।।३३।। (पाइणं) पूर्व दिशा में (पडिणं) पश्चिम दिशा में (अणुदिसामवि) विदिशाओं में भी (अहे) अधोदिशा में ।।३४।। (भूआण) प्राणिओं को आघात करनेवाला (हव्ववाहो) अग्नि (पइव) दीपक (पयावट्ठा) तापहेतु (अणिलस्स) वाउकाय के ।।३७।। (तालिअंटेण) तालवृन्त, (विहुअणेण) हिलाने से (वेआवेऊणं) हवा करवाना (वा) और ।।३८।। (उइरंति) उदीरणा करना ।।३९।। (इसिणा) ऋषि ।।४७।। (नियागं) निमंत्रित ।।४९।। (ठिअप्पाणो) निश्चल चित्त युक्त ।।५०।। (कंसेसु) कांसे के प्याले (कंस पाएसु) कांसे के पात्र में (कुंडमोएसु) मिट्टी के पात्र में ।।५१।। (मत्तधोअण) पात्र धोने का (छड्डणे) त्याग करने में (छिन्नंति) छेदते हैं ।।५२।। (सिया) कदाच (एअमट्ठं) इस कारण से ।।५३।। (आसंदी) मंचिका (पलिअंकेसु) पलंग में (मंच) खटिआ (आसालएसु) आरामकुर्सी (अणायरिअं)

अनाचरित (अज्जाणं) साधुओं को (आसइत्तु) बैठने के लिए (सइत्तु) सोने के लिए ।।५४।। (पीढए) बाजोट (अहिट्ठगा) मार्ग में चलनेवाले ।।५५।। (गंभिर विजया) अप्रकाश आश्रय युक्त (विवज्जिआ) विशेष प्रकार से मना करें ।।५६।। (इमेरिसं) आगे कहा जायगा ऐसे (आवज्जइ) प्राप्त होता है (अबोहियं) मिथ्यात्व रूप फल ।।५७।। (विपत्ति) नाश (पडिग्घाओ) प्रत्याघात (पडिकोहो) प्रतिक्रोध (अगुत्ती) नाश ।।५९।। (अन्नयरागस्स) किसी को भी (अभिभूअस्स) पराभव पाया हुआ ।।६०।। (वुक्कंतो) भ्रष्ट (जढो) नाश पाना ।।६१।। (घसासु) पोलीभूमि (भिलुगासु) दरार युक्त भूमि (विअडेण) प्रासुक जल से (उप्पलावए) प्लावित करना ।।६२।। (असिणाणमहिट्ठगा) अस्नान का आश्रय करने वाले ।।६३।। (कक्कं) कल्क चंदनादि का लेंप (लुद्धं) लोदर (पउमगाणि) केसर (गायस्स) शरीर के (उव्वट्टणट्ठाए) उद्वर्तन अर्थात उबटन के लिए ।।६४।। (नगिणस्स) नग्न, प्रमाणोपेत वस्त्रधारी, (दीह) दीर्घ (नहंसिणो) दीर्घ नखयुक्त (कारिअं) करना ।।६५।। (खवंति) शोधता है (अमोह दंसिणो) मोहरहित (धुणंति) खपाता है (नवाइं) नये ।।६८।। (सओवसंता) सदाउपशांत (उउप्पसन्ने) शरद ऋतु में (उवेंति) उत्पन्न होता है (सविज्जविज्जाणुगया) स्वयं की परलोकोपकारिणी विद्यायुक्त (जसंसिणो) यशस्वी (अममा) ममत्वरहित ।।६९।।

प्रश्नकर्ता एवं समाधान कर्ता कौन?

नाणदंसणसंपन्नं, संजमे अ तवे रयं।
गणिमागमसंपन्नं, उज्जाणम्मि समोसढं ।।१।।
रायाणो राचमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिआ।
पुच्छंति निहुअप्पाणो, कहं भे आयारगोयरो ।।२।।

सं.छा.: ज्ञानदर्शनसम्पन्नं, संयमे च तपसि रतम्।
गणिनमागमसम्पन्नं, उद्याने समवसृतम् ।।१।।
राजानो राजामात्याश्च, ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः।
पृच्छन्ति निभृतात्मानः, कथं भवतामाचारगोचरः ।।२।।

भावार्थ : सम्यग्ज्ञान, दर्शन युक्त, संयम और तप में रक्त, आगम संपन्न, उद्यानादि में पधारे हुए आचार्यादि भगवंतों से राजा, प्रधान, ब्राह्मण या क्षत्रियादि हाथ जोड़कर स्वच्छ मन से प्रश्न करते हैं कि हे भगवंत! आपके आचार विचार किस प्रकार के हैं? हमें समझाओ ।।१-२।।

समाधान कैसे गुरु कर सकते हैं?

तेसिं सो निहुओ दंतो, सव्वभूअसुहावहो।
सिक्खाए सुसमाउत्तो, आयक्खइ विअक्खणो ।।३।।

सं.छा.: तेभ्योऽसौ निभृतो दान्तः, सर्वभूतसुखावहः।

शिक्षया सुसमायुक्तः, आख्याति विचक्षणः ।।३।।

भावार्थ : असंभ्रान्त इन्द्रियों सहित मन को दमन करनेवाला सभी प्राणिओं के हितेच्छु हितकर्ता एवं, ग्रहण, आसेवन रूप शिक्षा से युक्त ऐसे विचक्षण आचार्य भगवंत राजादि के प्रश्नों के उत्तर देते हैं।।३।।

आचार्य भगवंत का कथन :-

हंदि धम्मत्थकामाणं, निग्गंथाणं सुणेह मे।
आयारगोअरं भीमं, सयलं दुरहिट्ठिअं ।।४।।

सं.छा.: हन्दि धर्मार्थकामानां, निर्ग्रन्थानां शृणुत मे।
आचारगोचरं भीमं, सकलं दुरधिष्ठितम् ।।४।।

भावार्थ : हे राजादि महानुभाव! धर्म के फलस्वरूप मोक्षेच्छु मुमुक्षु निर्ग्रंथों के आचार क्रियाकांड को मैं कहता हूँ वह तुम सुनो! निर्ग्रंथों का यह सभी आचार कर्म शत्रु के लिए महाभयंकर है उसी प्रकार अल्प सत्त्व वाले प्राणियों के लिए परिपूर्ण रूप से कठिनता से पालन किया जा सके वैसा है। शक्तिहीन व्यक्ति के लिए दुष्कर है।।४।।

साध्वाचार की उत्कृष्टता :-

नन्नत्थ एरिसं वुत्तं, जं लोए परमदुच्चरं।
विउलट्ठाणभाइस्स, न भूअं न भविस्सइ ।।५।।

सं.छा.: नान्यत्रेदृशमुक्तं, यल्लोके परमदुश्चरम्।
विपुलस्थानभाजिनः, न भूतं न भविष्यति ।।५।।

भावार्थ : हे राजादि महानुभव! ऐसा उपरोक्त शुद्ध आचार विश्व में अति दुष्कर है। दूसरे दर्शनों में तो ऐसी आचार प्रणाली है ही नहीं। संयम स्थान के पालन करनेवाले महापुरुषों को जिनमत के अलावा ऐसा आचार दृष्टिगोचर न हुआ न होगा ।।५।।

सूत्रकार श्री ने साध्वाचार की उत्कृष्टता दर्शाते हुए स्पष्ट कहा है कि जिनमत में ही शुद्ध आचार है और ऐसे आचार पालक आत्मा ही आत्महित कर सकते हैं।

आराधक कौन-कौन?

खुड्डागनिअत्ताणं, वाहिआणं च जे गुणा।
अखंडफुडिआ कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा ।।६।।

सं.छा.: क्षुल्लकव्यक्तानां, व्याधितानां च ये गुणाः।
अखण्डास्फुटिताः कर्त्तव्यास्तत् शृणुत यथातथा ।।६।।

भावार्थ : इस आचार धर्म का पालन, बाल श्रमण, वृद्ध श्रमण, ग्लान व्याधियुक्त श्रमण एवं व्याधिरहित बाल-युवा-वृद्ध सभी को आगे कहे जायेंगे वैसे आचार रूप गुणों का पालन, देश विराधना एवं सर्व विराधना रहित करना अर्थात् निरतिचार चारित्र पालन करना। जैसा आचार का स्वरूप है वैसा मैं कहता हूँ। तुम सुनो ।।६।।

आचार स्वरूप :-

दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइं बालोऽवरज्झई।
तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गंथत्ताउ भस्सइ ।।७।।

सं.छा.: दशाष्टौ च स्थानानि, यानि बालोऽपराध्यति।
तत्रान्यतरे स्थाने, निर्ग्रन्थत्वाद् भ्रश्यति ।।७।।

भावार्थ : सूत्रकार श्री कहते हैं कि संयम के अठारह स्थान हैं जो अज्ञान आत्मा इन स्थानों की विराधना करता है, इनमें से एक भी स्थान की विराधना करता है उससे वह निर्ग्रंथ पद से भ्रष्ट होता है ।।७।।

नाम पूर्वक अठारह स्थान :-

वयछक्कं कायछक्कं अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक निसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ।।८।।

सं.छा.: व्रतषट्कं कायषट्कं, अकल्पो गृहिभाजनम्।
पर्यङ्को निषद्या च, स्नानं शोभावर्जनम् ।।८।।

भावार्थ : छः व्रत, छः काय रक्षण, गृहस्थ के भाजन बर्तन प्रयोग में लेने का त्याग, पलंग-कुर्सी-आरामकुर्सी आदि का त्याग, साध्वाचार के विपरीत आसन-गृह आदि का त्याग, अकल्पनीय पदार्थ का त्याग देशतः सर्वतः स्नान का त्याग, शारीरिक विभूषा का त्याग इस प्रकार ये अठारह प्रकार के संयम स्थान हैं।

प्रथम स्थान 'अहिंसा पालन' :-

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसिअं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ।।९।।
जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे णोवि घायए ।।१०।।
सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ।।११।।

सं.छा.: तत्रेदं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम्।
अहिंसा निपुणा दृष्टा, सर्वभूतेषु संयमः ।।९।।
यावन्तो लोके प्राणिनः, त्रसा अथवा स्थावराः।
तान् जानन्नजानन् वा, न हन्यान्नापि घातयेद् ।।१०।।
सर्वे जीवा अपीच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम्।
तस्मात् प्राणवधं घोरं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति वै ।।११।।

भावार्थ : पूर्वोक्त अठारह स्थानों में प्रथम श्री महावीर परमात्मा ने अहिंसा पालन कहा

हुआ है। यह अहिंसा धर्म के पालन आधाकर्मादि दोषों के त्याग द्वारा सूक्ष्म प्रकार से धर्म के साधन रूप स्वयं (भगवंत) ने देखा है इसी कारण से सभी जीवों के प्रति संयम रूप दया रखना चाहिए।

इस लोक में जितने भी त्रस जीव एवं स्थावर जीव हैं उन समस्त जीवों को जानते अजानते स्वयं मारे नहीं, मरवाये नहीं उपलक्षण से मारते हुए की अनुमोदना न करें। क्योंकि-

भगवंत ने कहा है कि - सभी जीव जीने की इच्छा करते हैं, जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इस कारण घोर नरकादि दुःख दायक प्राणीवध का निर्ग्रंथ त्याग करता है। यह प्रथम स्थान ।।९-११।।

द्वितीय स्थान 'असत्य त्याग' :-

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूआ, नोवि अन्नं वयावए ।।१२।।
मुसावाओ उ लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरिहिओ।
अविस्सासो अ भूआणं, तम्हा मोसं विवज्जए ।।१३।।

सं.छा.: **आत्मार्थं परार्थं वा, क्रोधाद्वा यदि वा भयाद्।**
हिंसकं न मृषां ब्रूया,-न्नाप्यन्यं वादयेत् ।।१२।।
मृषावादस्तु लोके, सर्वसाधुभिर्गर्हितः।
अविश्वासश्च भूतानां, तस्मान्मृषावादं विवर्जयेत् ।।१३।।

भावार्थ : स्व पर पीड़ा दायक असत्य वचन मुनि क्रोध से (लोभ से) भय से (हास्य से एक का ग्रहण तज्जातीय का ग्रहण) स्व के लिए पर के लिए बोले नहीं दूसरों से बोलावे नहीं उपलक्षण से बोलने वाले की अनुमोदना करे नहीं।

असत्य वचन विश्व में लोक में सभी उत्तम पुरुषों ने निंदनीय माना है। प्राणीओं को असत्यभाषी अविश्वसनीय है, इस कारण से असत्य वचन का त्याग करना। दूसरा संयम स्थान ।।१२-१३।।

तृतीय स्थान 'अदत्त अग्रहण' :-

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तंपि, उग्गहंसि अजाइया ।।१४।।
तं अप्पणा न गिण्हंति, नोऽवि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणंपि, नाणुजाणंति संजया ।।१५।।

सं.छा.: **चित्तवदचित्तवद्वा, अल्पं वा यदि वा बहु।**
दन्तशोधनमात्रमपि, अवग्रहे अयाचित्वा ।।१४।।

सं.छा.: **तदात्मना न गृह्णन्ति, नापि ग्राहयन्ति परम्।**

अन्यं वा गृह्णन्तमपि, नानुजानन्ति संयताः ।।१५।।

भावार्थ : मालिक से याचना किये बिना सचित्त या अचित्त, अल्प हो या अधिक, दांत साफ करने की सली तक भी स्वयं ले नहीं दूसरों से मंगवाए नहीं, लेनेवालों की अनुमोदना न करें।

सूत्रकार श्री ने दांत साफ करने की सली जैसी वस्तु बिना याचना किये लेने का निषेधकर यह स्पष्ट किया है कि साध्वाचार में अदत्त अग्रहण का कितना महत्त्व है? तृतीय संयम स्थान ।।१४-१५।।

चतुर्थ संयम स्थान 'अब्रह्म का त्याग' :-

अबंभचरिअं घोरं, पमायं दुरहिट्ठिअं।
नायरंति मुणी लोए, भेआययणवज्जिणो ।।१६।।
मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ।।१७।।

सं.छा.: अब्रह्मचर्यं घोरं, प्रमादं दुराश्रयम्।
नाचरन्ति मुनयो लोके, भेदायतनवर्जिनः ।।१६।।
मूलमेतदधर्मस्य, महादोषसमुच्छ्रयम्।
तस्मान्मैथुनसंसर्गं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति वै ।।१७।।

भावार्थ : चारित्र नाश हो ऐसे स्थान के त्यागी, चारित्राचार पालक पापभीरू, मुनि, रौद्र अनुष्ठान के हेतुभूत, सर्व प्रमाद के मूल रूप में और अनंत संसारवृद्धक होने से एवं आगमज्ञ भव्यात्माओं के द्वारा अनाचरित ऐसे अब्रह्मचर्य का आचरण नहीं करते। क्योंकि भगवंत ने इसे 'अधर्म का मूल एवं महादोषों का ढेर' जैसा कहा है अर्थात् अब्रह्मचर्य का सेवन अधर्म की जड़ है इससे अनेक प्रकार के पापाचरण होते हैं इस कारण से निर्ग्रंथ महापुरुष मैथुन संसर्ग का त्याग करते हैं। इति चतुर्थ संयम स्थान ।।१६-१७।।

पंचम स्थान 'अपरिग्रह' :-

बिडमुब्भेइमं लोणं, तिल्लं सप्पिं च फाणिअं।
न ते संनिहिमिच्छंति, नायपुत्तवओरया ।।१८।।
लोहस्सेस अणुप्फासे, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से।।१९।।
जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
तंपि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति अ ।।२०।।
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा ।।२१।।

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खणपरिग्गहे।
अवि अप्पणोऽवि देहंमि, नायरंति ममाइयं ।।२२।।

सं.छा.: बिंडमुद्वेद्यं लवणं, तैलं सर्पिश्च फाणितम्।
न ते सन्निधिमिच्छन्ति, ज्ञातपुत्रवचोरताः ।।१८।।
लोभस्यैषोऽनुस्पर्शः, मन्यन्तेऽन्यतरामपि।
यःस्यात् सन्निधिं कामयते, गृही प्रव्रजितो नासौ।।१९।।
यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादपुञ्छनम्।
तदपि संयमलज्जार्थं, धारयन्ति परिहरन्ति।।२०।।
नासौ परिग्रह उक्तो, ज्ञातपुत्रेण तायिना।
मूर्च्छा परिग्रह उक्तः, इत्युक्तं महर्षिणा।।२१।।
सर्वत्रोपधिना बुद्धाः संरक्षणपरिग्रहे।
अप्यात्मनोऽपि देहे, नाचरन्ति ममत्वम् ।।२२।।

भावार्थ : ज्ञातपुत्र श्री महावीर परमात्मा के वचन में अनुरक्त मुनि गोमुत्रादि से पकाया हुआ प्रासुक नमक, समुद्रादि सचित्त नमक, तेल, घृत, नरम गुड आदि किसी भी प्रकार का पदार्थ सन्निधि के रूप में रातभर रखना नहीं चाहते। क्योंकि भगवंत ने कहा है-

संन्निधि रखना यह लोभ कषाय का प्रभाव है। अल्प मात्रा में भी सन्निधि को रखनेवाले को गृहस्थ मानना, साधु मानना नहीं वह दुर्गति के निमित्त रूप क्रिया करता हैं। ऐसा श्री तीर्थंकर, गणधर, भगवंतों ने कहा है।

सन्निधि रखनेवाले को गृहस्थ कहा है तो वस्त्रादि रखनेवाले को मुनि कैसे कहा जाय? ऐसी शंका के समाधान में कहा है - वस्त्र, पात्र, कंबल, पाद प्रोंछन रजोहरण आदि आवश्यक सामग्री रखी जाती है वह भी संयम सुरक्षा हेतु है। लज्जा मर्यादा के पालनार्थ है। मूर्च्छारहित उपयोग किया जाता है। इसी हकिकत को आगे सिद्ध किया है।

स्व पर तारक ज्ञातपुत्र श्री महावीर परमात्मा ने ममत्व रहित आवश्यकतानुसार वस्त्रादि रखने को परिग्रह नहीं कहा है। उन वस्त्रादि पर मूर्च्छा है, आसक्ति है, ममत्वभाव है, उसको परिग्रह कहा है। इस हेतु से गणधरादि भगवंतों ने सूत्रों में वस्त्रादि रखने में दोष नहीं कहा।

ज्ञानी महापुरुष सर्वोचित देशकाल में वस्त्रादि उपधियुक्त होते हैं वे छः काय की रक्षा हेतु उसे स्वीकार करते हैं क्योंकि वे अपने देह पर ममत्व भाव से रहित होते हैं तो वस्त्र पर तो ममत्व भाव न हो उसमें कहना ही क्या? इति पंचम संयम स्थानं ।।१८-२२।।

इन आगमोक्त कथन से स्पष्ट हो रहा है कि जहां-जहां वस्त्रादि, पुस्तकादि,

औषधादि का संग्रह ममत्व भाव पूर्वक है वहां-वहां भाव साधुता नहीं है, गृहस्थभाव है। वह वेश से मुनि है भाव से गृहस्थ है।

षष्ठम् स्थान 'रात्रिभोजन त्याग' :-

अहो निच्चं तवो कम्मं, सव्वबुद्धेहिं वण्णिअं।
जा य लज्जासमावित्ती, एगभत्तं च भोअणं।।२३।।
संतिमे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणीयं? चरे।।२४।।
उदउल्लं बीअसंसत्तं, पाणा निवडिया महिं।
दिआ ताइं विवज्जिज्जा, राओ तत्थ कहं चरे? ।।२५।।
एअं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासिअं।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोअणं ।।२६।।

सं.छा.: अहो नित्यं तपः कर्म, सर्वबुद्धैर्वर्णितम्।
या य ल्लज्जासमा वृत्तिः, एकभक्तं च भोजनम्।।२३।।
सन्त्येते सूक्ष्माःप्राणिनः, त्रसा अथवा स्थावराः।
यान् रात्रावपश्यन्, कथमेषणीयं चरेद् ।।२४।।
उदकार्द्रं बीजसंसक्तं, प्राणिनो निपतिता महाम्।
दिवा तानि विवर्जयेद्, रात्रौ तत्र कथं चरेद्? ।।२५।।
एतं च दोषं दृष्ट्वा, ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
सर्वाहारं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम् ।।२६।।

भावार्थ : संयम पालन में बाधा न आवे उस रीति से देह पोषण युक्त नित्य-अप्रतिपाती तपःकर्म सभी तीर्थंकर भगवंतों ने कहा हुआ है और एक बार भोजन/गोचरी करने का कहा है ।।२३।।

प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले दो इंद्रियादि त्रस, पृथ्वी आदि स्थावर प्राणी हैं। जो रात में चक्षु से देखने में नहीं आते। वे दृष्टि गोचर न होने से रात्रि को निर्दोष गोचरी के लिए कैसे फिरेंगे? किस प्रकार आहार करेंगे? रात्रि को गोचरी हेतु जाने में एवं वापरने में प्राणीओं का घात होता है।।२४।।

रात को गोचरी जाते समय आहार सचित्त जल से भीगा हुआ हो या बीजादि से मिश्र हो और मार्ग/राह में संपातिम प्राणी रहे हुए हो तो दिन में तो उनका त्याग किया जा सकता है, पर रात को उसका त्याग कर, कैसे चल सके? ।।२५।।

इस प्रकार अनेक दोषों को देखकर ज्ञातपुत्र श्री महावीर परमात्मा ने कहा कि- श्रमणों को चारों प्रकार के आहार का रात को सर्वथा त्याग करना चाहिए ।।२६।।

श्रमण भगवंत को तप वही करने का कहा है जिस तप से संयम धर्म पालन

में दोष सेवन न करना पड़े। दोष सेवनकर तप करना जिनाज्ञा विरूद्ध है। आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार खाकर तप करने की अपेक्षा नित्य निर्दोष गोचरी से एकासन का तप कराना जिनाज्ञा की आराधना है।

सप्तम स्थान 'पृथ्वीकाय की जयणा' :-

पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ।।२७।।
पुढविकायं विहिंसंतो, हिंसइ उ तयस्सिए।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ।।२८।।
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
पुढविकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ।।२९।।

सं.छा.: पृथ्वीकायं न हिंसन्ति, मनसा वाचा कायेन।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ।।२७।।
पृथिवीकायंवि हिंसन्, हिनस्त्येव तदाश्रितान्।
त्रसांश्च विविधान् प्राणिनः, चाक्षुषांश्चाचाक्षुषांश्च ।।२८।।
तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम्।
पृथिवीकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेद् ।।२९।।

भावार्थ : सुसमाहित साधु भगवंत पृथ्वीकाय की मन-वचन-काया से हिंसा करते नहीं, करवाते नहीं, करनेवाले की अनुमोदना नहीं करते। पृथ्वी काय की हिंसा करते समय उसकी निश्रा में रहे हुए त्रस जीव और दूसरे भी विविध प्राणिओं की जो चक्षु से दृश्य, अदृश्य हैं उसकी हिंसा हो जाती है। पृथ्वीकाय की हिंसा में दूसरे प्राणिओं की हिंसा भी होती है यह दोष दुर्गतिवर्द्धक होने से पृथ्वीकाय के समारंभ का त्याग जावज्जीव तक करना, यह सप्तम संयम स्थान है ।।२७-२९।।

अष्टम स्थान 'अप्काय की जयणा' :-

आउ कायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिआ ।।३०।।
आउकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ।।३१।।
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
आउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ।।३२।।

सं.छा.: अप्कायं न हिंसन्ति, मनसा वाचाकायेन।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ।।३०।।
अप्कायंवि हिंसन्, हिनस्त्येव तदाश्रितान्।

त्रसांश्च विविधान् प्राणिनः, चाक्षुषांश्चाचाक्षुषांश्च ।।३१।।
तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम्।
अप्कायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेद् ।।३२।।

भावार्थ : सुसमाहित साधु भगवंत अप्काय की हिंसा मन-वचन-काया से करते नहीं, कराते नहीं, करनेवाले की अनुमोदना नहीं करते। अप्काय की हिंसा के समय उनकी निश्रा के अनेक चक्षु से दृश्य, अदृश्य त्रस स्थावर जीवों की हिंसा होती है। ऐसे दुर्गति वर्द्धक दोषों के कारण अप्काय के समारंभ का त्याग जीवन पर्यंत करना, यह अष्टम संयम स्थान है ।।३०-३२।।

नवम स्थान 'अग्निकाय जयणा' :-

जायतेअं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओऽवि दुरासयं ।।३३।।
पाईणं पडिणं वावि, उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वावि, दहे उत्तरओवि अ ।।३४।।
भूआणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ।।३५।।
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
तेउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ।।३६।।

सं.छा.: जाततेजसं नेच्छन्ति, पापकं ज्वालयितुम्।
तीक्ष्णमन्यतरत् शस्त्रं, सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ।।३३।।
प्राच्यां प्रतीच्यां वापि, ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि।
अधोदक्षिणतो वापि, दहत्युत्तरतोऽपि च ।।३४।।
भूतानामेष आघातो, हव्यवाहो न संशयः।
तं प्रदीपप्रतापार्थं, संयताः किञ्चिन्नारभन्ते ।।३५।।
तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम्।
तेजःकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेद् ।।३६।।

भावार्थ : पापरूप तीक्ष्ण और चारों ओर से धारयुक्त शस्त्र जैसा होने से, सभी प्रकार से दुःखपूर्वक आश्रय लिया जा सके ऐसा अनेक जीवों का संहारक शस्त्र ऐसे पापकारी अग्नि का आरंभ अर्थात् अग्नि को प्रज्वलित करना नहीं चाहते। (जाततेज - उत्पन्न समय से तेजस्वी)

पूर्व, पश्चिम, उर्ध्व, अधो, विदिशाओं, दक्षिण, उत्तर में अर्थात् सभी दिशाओं में अग्नि दाह्य पदार्थ को जला देती है।

यह अग्नि सभी प्राणिओं का घात करने वाली है इसमें कोई संशय नहीं। इस

कारण से साधु दीपक के लिए या ताप के लिए किंचित् मात्र भी उसका आरंभ नहीं करते।

दुर्गतिवर्द्धक अग्नि से उत्पन्न दोषों को ज्ञातकर साधु जावज्जीव तक अग्निकाय के आरंभ का त्याग करें यह नवम संयम स्थान है ।।३३-३६।।

आगमकारों ने अग्नि को दीर्घकाय शस्त्र, सर्वभक्षी तीक्ष्ण शस्त्र आदि उपमाओं से संबोधितकर इसका मनमाने अपवादों को महत्त्व देकर उपयोग करनेवालों को सूचित किया है कि आप श्रमण लोग जो कुछ भी तप, जप, आचार पालन शासन सेवा आदि के द्वारा पुण्योपार्जन करते हो उसे क्षण भर में अग्नि का आरंभ जलाकर भस्म कर देगा।

दशम स्थान 'वाउकाय जयणा' :-

अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेअं, नेअं ताईहिं सेविअं ।।३७।।
तालिअंटेण पत्तेण, साहाविहुअणेण वा।
न ते वीइउमिच्छंति, वेआवेऊण वा परं ।।३८।।
जंपि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं।
न ते वायमुईरंति, जयं परिहरंति अ ।।३९।।
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वाउकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ।।४०।।

सं.छा.: अनिलस्य समारम्भं, बुद्धा मन्यन्ते तादृशम्।
सावद्यबहुलं चैतं, नैनं तायिभिः सेवितम् ।।३७।।
तालंवृन्तेन पत्रेण, शाखाविधूननेन वा।
न ते वीजितुमिच्छन्ति, वीजयन्ति (यितुं) वा परैः ।।३८।।
यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा, कम्बलं पादपुञ्छनम्।
न ते वातमुदीरयन्ति, यतं परिहरन्ति च ।।३९।।
तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम्।
वायुकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेद् ।।४०।।

भावार्थ : तीर्थंकर भगवंत वाउकाय के आरंभ को अग्नि के आरंभ जैसा मानते हैं अतः अधिक पापार्जन करवानेवाले वायुकाय केआरंभ का सेवन नहीं करते।

ताड़ के पंखे से, पत्ते को, शाखा को, हिलाकर आदि किसी भी प्रकार से मुनि हवा नहीं लेते। दूसरे को हवा करने हेतु नहीं कहते एवं करनेवाले की अनुमोदना नहीं करते।

वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण, पादप्रोंछन आदि धर्मोपकरण के द्वारा मुनि वायु

की उदीरणा नहीं करते पर जयणापूर्वक वस्त्रपात्रादि का परिभोग करते हैं।

दुर्गतिवर्द्धक दोषों को जानकर मुनि भगवंत वाउकाय के समारंभ का त्याग करते हैं। यह दशम संयम स्थान है।।३७-४०।।

एकादशम संयम स्थान 'वनस्पतिकाय की जयणा' :-

वणस्सइं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ।।४१।।
वणस्सइं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ।।४२।।
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वणस्सइसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ।।४३।।

सं.छा.: वनस्पतिं न हिंसन्ति, मनसा वाचा कायेन।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ।।४१।।
वनस्पतिं विहिंसन्, हिनस्त्येव तदाश्रितान्।
त्रसांश्च विविधान् प्राणिनः, चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ।।४२।।
तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं दुर्गतिवर्धनम्।
वनस्पतिसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेद् ।।४३।।

भावार्थ : सुसमाहित श्रमण मन, वचन, काया रूप तीन योग कृत, कारित, अनुमोदित रूप तीन करण से वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते। वनस्पति का विराधक दृश्य अदृश्य त्रस एवं दूसरे प्राणियों की हिंसा करता है।

अतः दुर्गतिवर्द्धक दोषों को जानकर जीवन पर्यंत वनस्पतिकाय के आरंभ का मुनि त्याग करे यह एकादशम संयम स्थान है ।।४१-४३।।

द्वादशम् संयम स्थान 'त्रसकाय की जयणा' :-

तसकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएणं, संजया सुसमाहिआ ।।४४।।
तसकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे अ विविहे पाणे, चक्खुसे अ अचक्खुसे ।।४५।।
तम्हा एअं विआणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
तसकायसमारंभं, जावजीवाइ वज्जए ।।४६।।

सं.छा.: त्रसकायं न हिंसन्ति, मनसा, वाचा कायेन।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयताः सुसमाहिताः ।।४४।।
त्रसकायं विहिंसन्, हिनस्त्येव तदाश्रितान्।
त्रसांश्च विविधान् प्राणिनः, चाक्षुषांश्चाचाक्षुषान् ।।४५।।

तस्मादेतं विज्ञाय, दोषं, दुर्गतिवर्धनम्।
त्रसकायसमारम्भं, यावज्जीवं वर्जयेद् ।।४६।।

भावार्थ : सुसमाहित श्रमण मन, वचन, काया रूप तीन योग कृत कारित अनुमोदित रूप तीन करण से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते। त्रसकाय का विराधक अन्य दृश्य अदृश्य जीवों की विराधना करता है।

दुर्गतिवर्द्धक दोषों को जानकर जीवनपर्यन्त तक श्रमण त्रसकाय के आरंभ का त्याग करे यह द्वादशम संयम स्थान है ।।४४-४६।।

त्रयोदशम स्थान 'अकल्पनीय का त्याग' :-

जाइं चत्तारि भुज्जाइं, इस्सिणाऽऽहारमाइणि।
ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए ।।४७।।
पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य।
अकप्पिअं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पिअं ।।४८।।
जे नियागं ममायंति, कीअमुद्देसिआहडं।
वहं ते समणुजाणंति, इइ वुत्तं महेसिणा ।।४९।।
तम्हा असणपाणाइं, कीअमुद्देसिआहडं।
वज्जयंति ठिअप्पाणो, निग्गंथा धम्मजीविणो ।।५०।।

सं.छा.: यानि चत्वार्यभोज्यानि, ऋषीणामाहारादीनि।
तानि तु विवर्जयन्, संयममनुपालयेद् ।।४७।।
पिण्डं शय्यां च वस्त्रं च, चतुर्थं पात्रमेव च।
अकल्पिकं नेच्छेत्, प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ।।४८।।
ये नियागं परिगृह्णन्ति, क्रीतमौद्देशिकाहृतम्।
वधं ते समनुजानन्ति, इत्युक्तं च महर्षिणा ।।४९।।
तस्मादशनपानादि, क्रीतमौद्देशिकाहृतम्।
वर्जयन्ति स्थितात्मानो, निर्ग्रन्था धर्मजीविनः ।।५०।।

भावार्थ : ऋषि-मुनि, जो आहारादि चार अकल्पनीय है उसका, त्याग करते हुए संयम का पालन करे।

पिंड, शय्या, वस्त्र एवं चतुर्थ पात्र चारों में से जो कल्पनीय हो, वह ग्रहण करे, अकल्पनीय का त्याग करें।

जो श्रमण/ऋषि नित्य/नियमित/निमंत्रित आहार, साधु के निमित्त कृत, औद्देशिक, घर से या ग्राम से सामने लाया हुआ आहारादि ग्रहण करें तो बनाने, लाने में जो विराधना हुई उसकी अनुमोदना साधु करता है। ऐसा महान् ऋषि श्री महावीर परमात्मा ने कहा है।

इस कारण से अशनपानादि कृत, औद्देशिक एवं आहत का त्याग होता है। सत्त्वयुक्त संयम रूप जीवन युक्त महामुनि के लिए यह है त्रयोदशम संयमस्थान ।।४७-५०।।

चतुर्दशम संयम स्थान 'गृहस्थ भाजन का त्याग' :-

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ ।।५१।।
सीओदगसमारंभे, मत्त-धोअण-छड्डणे।
जाइं छन्नंति (छिप्पंति) भूआइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो।।५२।।
पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कप्पइ।
एअमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ।।५३।।

सं.छा.: कंसेषु कंसपात्रेषु, कुण्डमोदेषु वा पुनः।
भुञ्जानोऽशनपानाद्याचारात्परिभ्रश्यति ।।५१।।
शीतोदकसमारम्भे, मात्रकधावनोज्झने।
यानि क्षिप्यन्ते भूतानि, दृष्टस्तत्रासंयमः ।।५२।।
पश्चात्कर्म पुरःकर्म्म, स्यात्तत्र न कल्पते।
एतदर्थं न भुञ्जते, निर्ग्रन्था गृहिभाजने ।।५३।।

भावार्थ : कांसे के प्याले, कांसे के पात्र एवं मिट्टी के कुंड मोद आदि गृहस्थ के बर्तन में अशन पानी आदि वापरने से श्रमण आचार से परिभ्रष्ट होता है। सूत्रकार श्री ने कारण दर्शाते हुए कहा है कि - साधु के निमित्त से सचित्त पानी से बर्तन धोने का आरंभ एवं वापरने के बाद पात्र धोकर पानी फेंक देने से पानी आदि अनेक जीवों का घात होता है ज्ञानियों ने उसमें असंयम देखा है।

गृहस्थ के बर्तनों में भोजन करने से पूर्व कर्म एवं पश्चात् कर्म की संभावना है ऐसे दोष के कारण निर्ग्रंथ ऋषि, मुनि गृहस्थ के पात्र में आहार नहीं करते। यह चतुर्दशम संयम स्थान है ।।५१-५३।।

त्रेपनवी गाथा के भावार्थ को देखते हुए गृहस्थ के बर्तन बाह्य उपयोग में लेते समय भी पूर्व कर्म एवं पश्चात् कर्म की संभावना का दोष है। अतः गृहस्थ के बर्तन, वस्त्रादि के उपयोग में विवेक का होना अति आवश्यक है नहीं तो अशुभ कर्म का विशेष बंध होता है।

पंचदशम स्थान 'पर्यंक वर्जन' :-

आसंदीपलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा।
अणायरिअमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा ।।५४।।
नासंदीपलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए।

निग्गंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ।।५५।।
गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा।
आसंदी पलिअंको अ, एअमट्ठं विवज्जिआ ।।५६।।

सं.छा.: आसन्दीपर्यङ्कयोः, मञ्चाशालकयोश्च वा।
अनाचरितमार्याणां, आसितुं स्वप्तुं वा।।५४।।
नासन्दीपर्यङ्कयोः, न निषद्यायां न पीठके।
निर्ग्रन्था अप्रत्युपेक्ष्य, बुद्धोक्ताधिष्ठातारः ।।५५।।
गम्भीरविजया एते, प्राणिनो दुष्प्रत्युपेक्षणीयाः।
आसन्दी पर्यङ्कश्च, एतदर्थं विवर्जिताः ।।५६।।

भावार्थ : मंचिका, पलंग, मंच, आरामकुर्सी आदि आसन पर बैठना और सोना श्रमणों के लिए अनाचरित है। क्योंकि उसमें छिद्र होने से जीव हिंसा होना संभव है।

जिनाज्ञाअनुसार आचरण कर्ता मुनि-आचार्यादि को राजदरबार आदि स्थानों में जाना पड़े, बैठना पड़े तो अपवाद मार्ग से आसन, पलंग, कुर्सी, बाजोट आदि को पूंजकर पडिलेहणकर बैठे; बिना पडिलेहण उसका उपयोग न करें।

मंचिका, पलंग, आरामकुर्सी आदि गम्भीर छिद्रवाले, अप्रकाश आश्रययुक्त होने से, उनमें रहे हुए सूक्ष्मजीव, दृष्टिगोचर न होने से, उस पर बैठने से, जीव विराधना होती है अतः ऐसे आसनों का त्याग करना। सारांश है दुष्प्रतिलेखन वाले आसन आदि का उपयोग न करना यह पंद्रहवाँ संयम स्थान है ।।५४-५६।।

सोलहवाँ स्थान 'गृहान्तर निषद्या वर्जन' :-

गोअरग्गपविट्ठस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ।
इमेरिसमणायारं, आवज्जइ अबोहिअं ।।५७।।
विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं।।५८।।
अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणं।
कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ।।५९।।
तिण्हमन्नयरागस्स, निसिज्जा जस्स कप्पइ।
जराए अभिभूअस्स, वाहिअस्स तवस्सिणो ।।६०।।

सं.छा.: गोचराग्रप्रविष्टस्य, निषद्या यस्य कल्पते।
एवमीदृशमनाचारं, आपद्यते अबोधिकम् ।।५७।।
विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य, प्राणिनां च वधे वधः।
वनीपकप्रतिघातः, प्रतिक्रोधश्चागारिणाम्।।५८।।

अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य, स्त्रीतश्चापि शङ्कनम्।
कुशीलवर्धनं स्थानं, दूरतः परिवर्जयेद् ।।५९।।
त्रयाणामन्यतरस्य, निषद्या यस्य कल्पते।
जरयाऽभिभूतस्य, व्याधितस्य तपस्विनः ।।६०।।

भावार्थ : गोचरी गया हुआ श्रमण गृहस्थ के घर बैठता है तो आगे कहे जानेवाले मिथ्यात्वोत्पादक अनाचार की प्राप्ति होती है।।५७।।

ब्रह्मचर्य का नाश, परिचय की वृद्धि से आधाकर्मादि आहार से भक्ति के प्रसंग में प्राणीवध, भिक्षुकों को अंतराय, गृहस्थ को कभी क्रोध उत्पन्न हो जाय, ब्रह्मचर्य व्रत का भंग हो, गृहस्वामी को अपनी स्त्री पर शंका उत्पन्न हो, इस कारण से कुशीलवर्द्धक स्थानों का मुनि को दूर से त्याग करना चाहिए ।।५८-५९।।

अपवाद मार्ग दर्शाते हुए सूत्रकार श्री ने कहा है कि निम्न तीन प्रकार के श्रमणों को कारण से बैठना कल्पता है।

(१) जराग्रस्त अति वृद्ध, (२) व्याधिग्रस्त रोगी, (३) तपस्वी उत्कृष्टतपकारक।

ये तीनों गोचरी गये हों और थकान के कारण बैठना पड़े तो बैठ सकते हैं.यह सोलहवाँ संयम स्थान है ।।६०।।

सप्तदशम स्थान 'स्नान वर्जन' :-

वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संजमो ।।६१।।
संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलुगासु अ।
जे अ भिक्खू सिणायंतो, विअडेणुप्पलावए ।।६२।।
तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ।।६३।।
सिणाणं अदुवा कक्कं, लुद्धं पउमगाणि अ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइवि ।।६४।।

सं.छा.: व्याधितो वा ऽरोगी वा, स्नानं यस्तु प्रार्थयते।
व्युत्क्रान्तो भवत्याचारः, त्यक्तो भवति संयमः ।।६१।।
सन्त्येते सूक्ष्माः प्राणिनः, घसासु भिलुगासु च।
यांश्च भिक्षुः स्नान्, विकृतेनोत्प्लावयति ।।६२।।
तस्मात्ते न स्नान्ति, शीतेनोष्णेन वा।
यावज्जीवं व्रतं घोरं, अस्नानमधिष्ठातारः ।।६३।।
स्नानमथवा कल्कं, लोध्रं पद्मकानि च।
गात्रस्योद्वर्त्तनार्थं, नाचरन्ति कदाचिदपि ।।६४।।

भावार्थ : जो साधु व्याधिग्रस्त रोगी या निरोग स्वस्थ है, और वह स्नान करने की इच्छा करता है, तो उसके आचार का उल्लंघन होता है एवं वह संयम से भ्रष्ट होता है। स्नान से जीवविराधना का स्वरूप दर्शाते हैं। पोली भूमि एवं दरार युक्त भूमि में सूक्ष्म जीव रहते हैं। अचित्त जल से स्नान करने से वे जीव प्लावित होते हैं। उन जीवों को पीड़ा होती है। इसी कारण से शीत या उष्ण जल से मुनि स्नान नहीं करते पर जीवनपर्यंत स्नान न करने रूप दुष्कर व्रत का आश्रय करते हैं। और स्नान या चंदनादि लेप, लोध्र, केसर आदि विशेष सुगंधित द्रव्यों से उबटन आदि नहीं करते। यह सतरवाँ संयम स्थान है ।।६१-६४।।

व्याधिग्रस्त मुनि को भी स्नान न करने का विधानकर अस्नान व्रत की महत्ता स्पष्ट की है। वर्तमान में अस्नान व्रत में जो दरारें गिर रही हैं, उस पर श्रमण संघ को चिंतन करना आवश्यक है।

अष्टादशम स्थान 'विभूषा वर्जन' :-

नग्गिणस्स वावि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो।
मेहुणा उवसंतस्स, किं विभूसाइ कारिअं ।।६५।।
विभूसावत्तिअं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ।।६६।।
विभूसावत्तिअं चेअं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं चेअं, नेअं ताईहिं सेविअं ।।६७।।

सं.छा.: **नग्नस्य वापि मुण्डस्य, दीर्घरोमनखवतः (खांशिनः)।**
मैथुनादुपशान्तस्य, किं विभूषया कार्यम् ।।६५।।
विभूषाप्रत्ययं भिक्षुः, कर्म्म बध्नाति चिक्कणम्।
संसारसागरे घोरे, येन पतति दुरुत्तरे ।।६६।।
विभूषाप्रत्ययं चेतः, बुद्धा मन्यन्ते तादृशम्।
सावद्यबहुलं चैतद्, नैतत् तायिभिः सेवितम् ।।६७।।

भावार्थ : नग्न, मुंड, दीर्घरोम एवं नख युक्त जिन कल्पि मुनि, प्रमाणोपेत वस्त्रयुक्त आदि स्थविर कल्पि मुनि, मैथुन से उपशांत होने से उन्हें विभूषा का क्या प्रयोजन?

जो लोग मुनिवेश में विभूषा करते हैं वे विभूषा के निमित्त से दारुण कर्म का बंध करते हैं। जिससे दुस्तर संसार सागर में गिरते हैं।

विभूषा करने के विचार को भी तीर्थंकर गणधर भगवंत विभूषा जैसा मानते हैं। इसलिए आर्त्त ध्यान द्वारा अत्यधिकपापयुक्तचित्त आत्मारामी मुनिओं द्वारा आसेवित नहीं है। यह अठारवाँ संयम स्थान है ।।६५-६७।।

प्रायः जीर्ण वस्त्र परिधान कर्ता मुनि विभूषा का विचार ही उत्पन्न होने नहीं

देता। विभूषा ब्रह्मचर्य व्रत के लिए तालपूट विष समान है। उज्ज्वल वस्त्र परिधान एक प्रकार की विभूषा है। आर्द्र वस्त्र से अंग स्वच्छ करना विभूषा है।

आचार पालन का फल :-

खवंति अप्पाणममोहदंसिणो, तवे रया संजमअज्जवे गुणे।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं, नवाइं पावाइं न ते करंति ।।६८।।
सओवसंता अममा अकिंचणा,
सविज्जविज्जाणुगया जसंसिणो।
उउप्पसन्ने विमलेव चंदिमा,
सिद्धिं विमाणाइं उवेंति ताइणो ।।६९।। त्ति बेमि।।

छट्ठं धम्मत्थकामज्झयणं समत्तं ।।

सं.छा.: क्षपयन्त्यात्मानममोहदर्शिनः, तपसि रताः संयमार्जवगुणे।
धुन्वन्ति पापानि पुराकृतानि, नवानि पापानि न ते कुर्वन्ति ।।६८।।
सदोपशान्ता अममा अकिञ्चनाः,
स्वविद्यविद्यानुगता यशस्विनः।
ऋतौ प्रसन्ने विमल इव चन्द्रमाः,
सिद्धिं विमानान्युपयान्ति तायिनः ।।६९।। इति ब्रवीमि ।।
षष्ठं धर्मार्थकामाध्ययनं समाप्तम् ।।

भावार्थ : अमोहदर्शी, तप, संयम, ऋजुतादि गुण में रक्त मुनि, आत्मा को शुद्ध विशुद्ध करते हुए पूर्वसंचित कर्मों को खपाते हैं। नये अशुभ कर्मों का बंध नहीं करते।

नित्य उपशांत, ममतारहित, परिग्रह रहित, परलोकोपकारिणी आत्मविद्या सहित, यशस्वी, शरद ऋतु के चंद्र सम निर्मल-भावमलरहित और स्व पर रक्षक उपर दर्शित आचार पालक मुनि मोक्ष में जाते हैं। अगर कर्मशेष रहे तो वे वैमानिक देव लोक में जाते हैं ।।६८-६९।।

श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी कहते हैं कि - हे मनक! ऐसा मैं अपनी बुद्धि से नहीं किन्तु तीर्थंकर गणधर आदि महर्षियों के उपदेश से कहता हूँ।

❋ ❋ ❋

७ सुवाक्यशुद्धिनामकं सप्तमं अध्ययनम्

संबंध : छट्ठे अध्ययन में महाचार (साध्वाचार) का वर्णन किया। साध्वाचार के वर्णन में भाषा का प्रयोग अनिवार्य है। भाषा के सदोष एवं निर्दोष दो भेद हैं। मुनि सतत निरंतर निरवद्य भाषा का (निर्दोष भाषा का) प्रयोग करता है। अतः सप्तम अध्ययन में भाषा शुद्धि हेतु प्ररूपणा की है।

सुवाक्य शुद्धि अध्ययन के उपयोगी शब्दार्थ - (परिसंखाय) जानकर (पन्नवं) बुद्धिमान (सव्वसो) सभी प्रकार से (विणयं) शुद्ध प्रयोग करना सीखे ।।१।। (सच्चा) सत्य (अवत्तव्वा) न बोलने योग्य (णाइन्ना) अनाचीर्ण ।।२।। (अकक्कसं) अकर्कश (समुप्पेह) अच्छी प्रकार से विचार करके बोली हुई (असंदिद्धं) संदेह रहित ।।३।। (अट्ठं) विषय (अन्नं) दूसरा (नामेइ) प्रतिकूल ।।४।। (वितहं) असत्य (तहामुत्तिं) तथा मूर्ति, सत्य जैसा, (पुट्ठो) स्पर्शित, स्पष्ट (किं पूणं) फिर क्या कहना? (वए) बोले ।।५।। (वक्खामो) कहेंगे (णे) हमारा (णं) यह हमारा (एसकालंमि) भविष्यकाल में (संपयाइअमट्ठे) वर्तमान, भूतकाल की बातें ।।६।। (पच्चुप्पण्ण) वर्तमान (जमट्ठं) जिस वस्तु के लिए (एवमेअं) यह इसी प्रकार ।।८।। (निद्दिसं) कहे बोले ।।९।। (फरुसा) कठोर (गुरूभूओवघाइणी) अधिक जीवों का घात करने वाली ।।११।। (पंडगं) नपुंसक (तेणं) चोर को ।।१२।। (उवहम्मइ) दुःख उत्पन्न होना (आयार भाव दोसन्नू) आचार, भाव, दोष का जानकार ।।१३।। (होले) मूर्ख (गोल) यार से जन्मा (साणे) श्वान (वसुल) छीनालज (दुमए) भिक्षुक (दुहए) दुर्भाग्य ।।१४।। (अज्जिए) दादी (पज्जिए) परदादी (माउसिउ) मासी (अन्नित्ति) हे अन्ने (हले-हलित्ति) हले-अली (पिउसिए) पितृस्वसा (भायणिज्ज) भाणजी (धुए) पुत्री (णत्तुणिअ) पौत्री (भट्टे) हे भट्टे (गोमिणि) गोमिनी ।।१५-१६।। (नामधिज्जेण) नाम लेकर (णं) इसको (बूआ) बुलावे (इत्थीगुत्तेण) स्त्री के गौत्र से (जहारिहं) यथायोग्य (अभिगिज्ज) देशकालानुसारी (आलविज्ज) एक बार (लविज्ज) बार-बार ।।१७।। (बप्पो) पिता (चुल्लपिउ) चाचा ।।१८-१९।। (जाइत्ति) जाति के आश्रय से ।।२०।। (पसुं) पशु को (सरीसवं) सर्प-अजगर को (धुले) विस्तारवान् (पमेइले) अतिमेद युक्त (वज्झे) वध योग्य (पइवे) पकाने योग्य ।।२२।। (परिवूढ) परिवृद्ध, बलवान (उवचिअ) उपचित देह युक्त (संजाए) संजात, युवा (पीणिए) पुष्ट (महाकाय) बड़े शरीरवाला ।।२३।। (दुज्जाओ) दुहने योग्य, (दम्मा) दमन करने योग्य (गोरहग) वृषभ (वाहिमां) वहन योग्य (रहजोग) रथयोग्य ।।२४।। (जुवं गवित्ति) युवानवृषभ (धेणुं) प्रसुता धेनु (रसदय त्ति) दुधं देनेवाली (रहस्से) छोटा (महल्लए) बडा (संवहणि) धोरी ।।२५।। (गंतुं) जाकर (पव्वयाणि) पर्वतो पर (अलं) योग्य (पासाए) प्रासादों के (दोणिणं) द्रोण, जल कुंडी काष्ठ की ।।२६-२७।। (चंगबेरे) काष्ठपात्र (नंगले) हल (मइअ) बीज बोने के बाद खेत को सम करने हेतु उपयोग में आनेवाला कृषि का एक उपकरण (जंतलट्ठी) यंत्र की लकड़ी, कोल्हू (नाभि) नाड़ी, पहिये का मध्य भाग, (गंडिआ) अहरन, एरण (सिआ) होगा।।२८।। (जाणं) रथ (उवस्सए) उपाश्रय में ।।२९।। (जाइमंता) ऊँची जात के (दीह) दीर्घ (वट्टा) गोलाकार (पयायसाला) विस्तरित शाखायुक्त (विडियां) प्रति शाखयुक्त (दरिसणित्ति) देखने योग्य ।।३०-३१।। (पायखज्जाइं) पकाकर खाने योग्य (वेलोइयाइं) अत्यंत पके हुए (टालाइं) कोमल (वेहिमाइं) दो भाग करने योग्य ।।३२।।

(असंथडा) असमर्थ (बहुनिव्वडिमा फला) बहुनिर्वर्तित (प्रायःनिष्पन्न) फल वाले है, गुठलीयुक्त फल है (वइज्ज) बोले (बहुसंभूआ) बहुसंभूत/एक साथ उत्पन्न हुए बहुत फलवाले (भूअरुप) भूतरूप/कोमल, बिना गुठली के ।।३३।। (ओसहिओ) औषधियाँ, डांगर आदि अनाज (नीलिआओ छवीइ) वाल, चौला, कठोल (लाइमा) काटने योग्य (भज्जिमाओ) भूनने योग्य (पिहुखज्ज) चिड़वा बनाकर खाने योग्य ।।३४।। (रुढा) अंकुरित (बहुसंभूआ) निष्पन्न प्रायः (थिरा) स्थिर, (ओसढा) ऊपर उठी हुई (गब्भिआओ) भूट्टों से रहित है (पसूआओ) भूट्टों से सहित है (ससाराउ) धान्य-कण सहित है ।।३५।। (संखडिं) जीमनवार (वज्झित्ति) वध करने योग्य (किच्चं) काम, कृत्य (कज्जं) करने येग्य (सुतित्थि) सुखपूर्वक तैरने योग्य (त्ति) ऐसा (आवगा) नदियाँ ।।३६।। (पणिअट्ठं) पणितार्थ, धन के लिए जान की बाजी लगानेवाला (समाणि) सरिखे, समान (तित्थाणि) पार करने का मार्ग (विआगरे) कहे ।।३७।। (पुण्णाओ) पूर्ण भरी हुई (कायत्तिज्ज) शरीर से तैरने योग्य (पाणिपिज्ज) प्राणीयों को जल पीने योग्य ।।३८।। (बहुवाहडा) प्रायः भरी हुई (अगाहा) अगाध (बहुसलिलुप्पिलोदगा) दूसरी नदीयों के प्रवाह को पीछे हटाने वाली (बहुवित्थडोदगा) पानी से अधिक विस्तारवाली ।।३९।। (निट्ठिअं) पूर्व में हो गये (किरमाणं) हो रहा है, किया जा रहा है ।।४०।। (सुहडे) अच्छी प्रकार हरण किया है (मडे) मर गया (सुनिट्ठिए) अच्छी प्रकार नष्ट हुआ (सुलट्ठित्ति) सुंदर ।।४१।। (पयत्त) प्रयत्न से (पयत्तलट्ठ) दीक्षा ले तो इस सुंदर कन्या का रक्षण करना (कम्महेउअं) कर्म है जिसका हेतु (पहारगाढ) गाढ प्रहार लगा हुआ ।।४२।। (परग्घं) अधिक मूल्यवान (अउलं) अतुल (अविक्किअं) इसके समान दूसरी वस्तु नहीं (अविअत्तं) अप्रीतिउत्पन्नकारक ।।४३।। (अणुवीइ) विचारकर ।।४४।। (पणीयं) करीयाणा ।।४५।। (पणिअट्टे) किराणा का पदार्थ (समुप्पन्ने) प्रश्न हो जाने पर ।।४६।। (आस) बैठे (एहि) आओ (वयाहि) उस स्थान पर जाओ ।।४७।। (वुग्गहे) संग्राम में ।।५०।। (वाओं) पवन (वुट्ठं) वर्षा (घायं) सुकाल (सिवं) उपद्रवरहित ।।५१।। (समुच्छिए) उमड़ रहा है (ऊन्नअं) उन्नत हो रहा है (पओए) मेघ (बलाहये) मेघ ।।५२।। (गुज्झाणुचरिअ) देव द्वारा सेवित (दिस्सं) देखकर ।।५३।। (ओहारिणी) निश्चयात्मक (माणवो) साधु ।।५४।। (अणुवीइ) विचारकर (सयाणमज्झे) सत्पुरुषों में ।।५५।। (सामणिए) श्रमणभाव में (जए) उद्यमवंत (हिअमाणुलोमिअं) हितकारी, मधुर, अनुकूल ।।५६।। (निद्धुणे) दूरकर (धुण्णमलं) पापमल (लोगमिणं) इस लोक में (तहा परं) उसी प्रकार परलोक में ।।५७।।

भाषा के प्रकार एवं स्वरूप -

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पन्नवं।
दुण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासिज्ज सव्वसो ।।१।।
जा अ सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा अ जा मुसा।

जा अ बुद्धेहिं नाइण्णा, न तं भासिज्ज पण्णवं ।।२।।
असच्चमोसं सच्चं च, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासिज्ज पण्णवं।।३।।

सं.छा.: चतसृणां खलु भाषाणां, परिसंख्याय प्रज्ञावान्।
द्वाभ्यां तु विनयं शिक्षेत, द्वे न भाषेत सर्वशः ।।१।।
या च सत्या अवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा।
या च बुद्धैरनाचरिता, नैनां भाषेत प्रज्ञावान् ।।२।।
असत्यामृषां सत्यां च, अनवद्यामकर्कशाम्।
सम्प्रेक्ष्यासन्दिग्धां, गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ।।३।।

भावार्थ : प्रज्ञावान् श्रमण चारों भाषाओं के स्वरूप को ज्ञातकर दो भाषाओं को निर्दोष जानकर शुद्ध प्रयोग करना सीखे। निर्दोष दो भाषा का उपयोग करें। दो का सर्वथा त्याग करें। भाषा के चार भेद हैं[1], सत्य[2], असत्य[3], सत्यामृषा (मिश्र) कुछ सत्य कुछ असत्य[4] असत्यामृषा व्यवहार भाषा न सत्य न असत्य। इन चार भाषाओं में सत्य भी सावद्य पापकारी हो तो न बोलें, पर पीड़ाकर सत्य भी न बोलें, मिश्र भाषा एवं असत्य भाषा ये दो भाषा तो सर्वथा न बोलें क्योंकि तीर्थंकरों के द्वारा अनाचीर्ण है चतुर्थ व्यवहारभाषा भी अयोग्य रीति से न बोलें, योग्य प्रकार से बोले। कौन-सी भाषा बोलना उसका स्वरूप दर्शाते हुए कहा है कि - प्रज्ञावान् मुनि व्यवहार भाषा एवं सत्यभाषा जो निर्दोष, कठोरता रहित, स्व-पर उपकारी और संदेह रहित शंकारहित हो वह बोले ।।१-३।।

मोक्ष मार्ग में प्रतिकुल भाषा का त्याग :-

एअं च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासयं।
स भासं सच्चमोसंपि, तंपि धीरो विवज्जए ।।४।।
वितहंपि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुणं जो मुसं वए? ।।५।।

सं.छा.: एतं चार्थमन्यं वा, यस्तु नामयति शाश्वतम्।
स भाषां सत्यामृषामपि, तामपि धीरो विवर्जयेद् ।।४।।
वितथमपि तथामूर्तिं, यां गिरं भाषते नरः।
तस्मादसौ स्पृष्टः पापेन, किं पुनर्यो मृषा वक्ति ।।५।।

भावार्थ : पूर्व में निषिध भाषा सावद्य एवं कठोर भाषा और उसके जैसी दूसरी भी भाषा जो मोक्ष मार्ग में प्रतिकुल है ऐसी व्यवहार एवं सत्य भाषा भी बुद्धिमान् धैर्य युक्त मुनि न बोले ।।४।।

जो मुनि सत्य दिखनेवाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है वह मुनि पाप से लिप्त होता है। तो जो पुरुष असत्य बोलता है उसका क्या कहना? यानि पुरुष वेषधारी स्त्री को पुरुष कहने वाला पाप बांधता है तो सर्वथा असत्य बोलनेवाला पाप से लिप्त होता ही है।।५।।

काल संबंधी शंकित भाषा का त्याग :-

तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सइ।
अहं वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सइ ।।६।।
एवमाइ उ जा भासा, एसकालंमि संकिआ।
संपयाइअमट्ठे वा, तंपि धीरो विवज्जए।।७।।
अईअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए।
जमट्ठं तु न जाणिज्जा, एवमेअं ति नो वए ।।८।।
अईअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पन्नमणागए।
जत्थ संका भवे तं तु, एवमेअं ति नो वए ।।९।।

सं.छा.: तस्माद् गमिष्यामः वक्ष्यामः, अमुकं वा नो भविष्यति।
अहं वेदं करिष्यामि, एष वा वै करिष्यति ।।६।।
एवमाद्यातु या भाषा, एष्यत्काले शङ्किता।
साम्प्रतातीतार्थयोर्वा, तामपि धीरो विवर्जयेद् ।।७।।
अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते।
यमर्थं तु न जानीयाद्, एवमेतदिति न ब्रूयात् ।।८।।
अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते।
यत्र शङ्का भवेत्तं तु, एवमेतदिति न ब्रूयात् ।।९।।

भावार्थ : असत्य होते हुए सत्य वस्तु के स्वरूप को प्राप्त पदार्थ के विषय में बोलने से पाप कर्म का बंध होता है तो हम जायेंगे, 'कहेंगे' हमारा वह कार्य हो जायेगा, मैं यह कार्य करुंगा या यह हमारा कार्य करेगा इत्यादि भविष्यकाल संबंधी भाषा उसी प्रकार वर्तमान एवं भूतकाल संबंधी भाषा बुद्धिमान साधु को नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि कहे अनुसार कार्य न हुआ तो असत्य के दोष के साथ जन समुदाय में लघुता आदि होती है।

अतीत, वर्तमान एवं भविष्य काल संबंधी जिस वस्तु के स्वरूप को, जिस कार्य के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से न जाना है उसके संबंध में यह ऐसा ही है, यह ऐसा ही था इस प्रकार न बोले ।।६-८।।

अतीत, भविष्य, एवं वर्तमान काल संबंधी जहाँ शंका है उसके विषय में ऐसा ही है ऐसा न कहें ।।९।।

तीनों काल संबंधी भाषा का प्रयोग :-

अईअंमि अ कालंमि, पच्चुप्पण्णमणागए।
निस्संकिअं भवे जं तु, एवमेअं तु निद्दिसे ।।१०।।

सं.छा.: अतीते च काले, प्रत्युत्पन्नेऽनागते।
निःशङ्कितं भवेद्यत्तु, एवमेतदिति तु निर्दिशेत् ।।१०।।

भावार्थ : भूत, भविष्य एवं वर्तमान काल में जिस पदार्थ के, कार्य के विषय में निःशंक हो और वह निष्पाप हो तो यह इस प्रकार है, ऐसा साधु कहे।

परुष एवं अतीव भूतोपघाती भाषा का त्याग :-

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चावि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ।।११।।

सं.छा.: तथैव परुषा भाषा, गुरुभूतोपघातिनी।
सत्यापि सा न वक्तव्या, यतः पापस्यागमः ।।११।।

भावार्थ : और परुष (कठोर) भावस्नेह रहित एवं जिससे प्राणीयों का उपघात विशेष हो ऐसी पापोत्पादक भाषा का अगर वह सत्य है तो भी न बोले ।।११।।

प्रयोजनवश भी ऐसे न बुलावें :-

तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगेत्ति वा।
वाहिअं वावि रोगित्ति, तेणं चोरेत्ति नो वए ।।१२।।
एएणऽन्नेण अट्ठेणं, परो जेणुवहम्मइ।
आयारभावदोसन्नू, न तं भासिज्ज पन्नवं ।।१३।।
तहेव होले गोलित्ति, साणे वा वसुलित्ति अ।
दुमए दुहए वावि, नेवं भासिज्ज पन्नवं ।।१४।।
अज्जिए पज्जिए वावि, अम्मो मावुस्सिअत्ति अ।
पिउस्सिए भायणिज्जत्ति, धूए णत्तुणिअत्ति अ ।।१५।।
हले हलित्ति अइत्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि।
होले गोले वसुलित्ति, इत्थिअं नेवमालवे ।।१६।।

सं.छा.: तथैव काणं काण इति, पण्डकं पण्डक इति।
व्याधितं वाऽपि रोगीति, स्तेनं चोर इति नो वदेत् ।।१२।।
एतेनान्येनार्थेन, परो येनोपहन्यते।
आचारभावदोषज्ञो, न तं भाषेत प्रज्ञावान् ।।१३।।
तथैव होलो गोल इति, श्वा वा वसुल इति च।
द्रमको दुर्भगो वाऽपि, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ।।१४।।

आर्यिके प्रार्यिके वापि, अम्ब! मातृष्वस इति च।
पितृष्वसः! भागिनेयीति, दुहितः! नप्त्रीति च ।।१५।।
हले हले इति अन्ये इति, भट्टे स्वामिनि! गोमिनि!।
होले गोले वसुले इति, स्त्रियं नैवमालपेत् ।।१६।।

भावार्थ : इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक व्याधियुक्त को रोगी, चोर को चोर न कहें। इससे अप्रीति लज्जानाश, स्थिर रोग, ज्ञान विराधना आदि दोष उत्पन्न होते हैं।

वचन नियमन संबंधी आचार, चित्त के प्रद्वेष या प्रमाद संबंधी भाव एवं दोष के ज्ञाता बुद्धिमान् मुनि पूर्वोक्त एवं दूसरे भी शब्दों द्वारा पर पीड़ाकारी वचन न बोलें।

और बुद्धिमान् मुनि मूर्ख, जारपुत्र, कुत्ता, शुद्र, द्रमक, दुर्भागी ऐसे शब्द भी किसी को न कहें।

हे आर्यिके (दादी) हे प्रार्यिके (परदादी) माँ, मौसी, बुआ, भानजी, पुत्री, पौत्री, हले, अली, अन्ने, भट्टे, स्वामिनी, गोमिनी, होले, गोले, छीनालण (वृषले) आदि शब्दों से स्त्री को न बुलायें। इसमें कितने ही शब्द निंदावाचक हैं कितने शब्द प्रीति उत्पादक हैं। ऐसे शब्दों से निंदा, द्वेष एवं प्रवचन की लघुता होती है ।।१२-१६।।

(विषेष-महाराष्ट्र में 'हले' और 'अन्ने' तरुण स्त्री के लिए सम्बोधन शब्द है। लाट देश में उसके लिए 'हला' शब्द का प्रयोग होता था। 'भट्टे' पुत्ररहित स्त्री के लिए। 'सामिणी' 'गोमिणी' सम्मान सूचक संबोधन। 'होले' 'गोल' 'वसुले' गोल देश में प्रयुक्त प्रिय आमंत्रण वचन।)

कैसे बुलावें?

नामधिज्जेण णं बूआ, इत्थीगुत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ।।१७।।

सं.छा.: नामधेयेनैनां ब्रूयात्, स्त्री-गोत्रेण वा पुनः।
यथार्हमभिगृह्य, आलपेल्लपेद्वा ।।१७।।

भावार्थ : प्रयोजन वश मुनि स्त्री को नाम लेकर बुलावे, गोत्र से बुलावे, यथायोग्य देशकालानुसारी गुण दोष का विचारकर एक बार या बार-बार बुलावें।।१७।।

पुरुषों को कैसे न बुलावें कैसे बुलावें ?

अज्जए पज्जए वा वि, बप्पो चुल्लपिउ त्ति अ।
माउलो भाइणिज्जत्ति, पुत्ते नत्तुणिअ त्ति अ ।।१८।।
हे हो हलि त्ति अम्हित्ति, भट्टे सामिअ गोमिअ।
होल गोल वसुलि त्ति, पुरिसं नेव-मालवे ।।१९।।
नामधिज्जेण जं बूआ, पुरिसगुत्तेण वा पुणो।

जहारिह-मभिगिज्झ, आलविज्ज लविज्ज वा ॥२०॥

सं.छा.: आर्यक! प्रार्यक! वापि, बप्प! चुल्लपितरिति च।
मातुल! भागिनेयेति, पुत्र! नप्तर्! इति च ॥१८॥
हे भो हलेति अन्येति, भर्त्तः! स्वामिन्! गोमिन्!
होल! गोल! वसुल इति, पुरुषं नैवमालपेद् ॥१९॥
नामधेयेन य ब्रूयात्, पुरुषं गोत्रेण वा पुनः।
यथाहमभिगृह्य, आलपेल्लपेद्वा॥२०॥

भावार्थ: हे आर्यक, पार्यक, पिता, चाचा, मामा, भानजा, पुत्र, पौत्र, हे, भो, हल, अन्न, भट्ट, स्वामी, गोमी, होल, गोल, वसुल इत्यादि नामों से पुरुषों को न बुलावें। ऐसे बुलाने से राग-द्वेष अप्रीति आदि दोषों की उत्पत्ति होती है।

जिस पुरुष को बुलाना हो उसका नाम लेकर, या गौत्र से या यथायोग्य गुण-दोष का विचारकर एक बार या बार-बार बुलावें ॥१८-२०॥

पशुओं के विषय में भाषा का प्रयोग :-

पंचिंदिआण पाणाणं, एस इत्थी अयं पुमं।
जाव णं न विजाणिज्जा, ताव जाइत्ति आलवे ॥२१॥
तहेव माणुसं पसुं, पक्खिं वा वि सरीसवं।
थूले पमेईले वज्जे, पाइमे त्ति अ नो वए ॥२२॥
परिवूढ त्ति णं बूआ, बूआ उवचिअ त्ति अ।
संजाए पीणिए वा वि, महाकायत्ति आलवे ॥२३॥
तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहग त्ति अ।
वाहिमा रहजोगि त्ति, नेवं भासिज्ज पण्णवं ॥२४॥
जुवं गवित्ति णं बूआ, धेणुं रसदय त्ति अ।
रहस्से महल्लए वा वि, वए संवहणि त्ति अ ॥२५॥

सं.छा.: पञ्चेन्द्रियाणां प्राणिनां, एषा स्त्री अयं पुमान्।
यावदेतन्न विजानीयात्तावज्जातिमित्यालपेत् ॥२१॥
तथैव मानुषं पशुं, पक्षिणं वापि सरीसृपम्।
स्थूलः प्रमेदुरो वध्यः, पाक्य इति च नो वदेत् ॥२२॥
परिवृद्ध इत्येनं ब्रूयाद्, ब्रूयादुपचित इति च।
सञ्जातः प्रीणितो वापि, महाकाय इति चालपेत् ॥२३॥
तथैव गावो दोह्या, दम्या गोरथका इति च।
वाह्या रथयोग्या इति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२४॥

युवा गौरिति वै ब्रूयाद्, धेनुं रसदेति च।
ह्रस्वं महल्लकं वापि, वदेत् संवहनमिति च ।।२५।।

भावार्थ : पंचेन्द्रिय प्राणियों में यह स्त्री रूप गाय है या पुरुष रूप वृषभ है ऐसा निर्णय न हो तो तब तक प्रसंगवश बोलना पड़े तो गाय की जाति आदि जातिवाचक शब्द का प्रयोग करें।

इसी प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी सर्प, अजगरादि के विषय में यह स्थूल है, मेदयुक्त है, वध्य है (वाह्य है) पाक्य है, पकाने योग्य है। इस प्रकार मुनि न बोले। इससे अप्रीति, वधादि की शंका सह अशुभ बंध का निमित्त है।

प्रयोजनवश आवश्यक हो तो, बलवान है, (परिवृद्ध है) उपचित देहयुक्त है, युवा है, पुष्ट है, महाकाय युक्त है इस प्रकार उपयोगपूर्वक बोले।

प्रज्ञावान् मुनि गायादि दुहने योग्य है, वृषभ दमन करने जैसे हैं जोतने जैसे हैं, भार वहन करने योग्य है, रथ में जोड़ने योग्य हैं इस प्रकार न बोले। पाप का कारण एवं प्रवचन की लघुता का कारण है।

प्रयोजनवश कहना पड़े तो गाय, बैल युवा है, गाय दूध देनेवाली है, बैल छोटा है, बड़ा है, धोरी वृषभ है इस प्रकार निर्दोष निष्पाप भाषा का प्रयोग करें ।।२१-२५।।

वनस्पति के विषय में भाषा का प्रयोग :-

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ।
रुक्खा महल्ल पेहाए, नेवं भासिज्ज पन्नवं ।।२६।।
अलं पासाय-खंभाणं, तोरणाणं गिहाण अ।
फलिहग्गल-नावाणं, अलं उदग-दोणिणं ।।२७।।
पीढए चंगबेरे अ, नंगले मइयं सिआ।
जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिआ व अलं सिआ ।।२८।।
आसणं सयणं जाणं, हुज्जा वा किंचुवस्सए।
भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासिज्ज पन्नवं ।।२९।।

सं.छा.: तथैव गत्वोद्यानं, पर्वतान् वनानि च।
वृक्षान् महतो प्रेक्ष्य, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ।।२६।।
अलं प्रासादस्तम्भयोः, तोरणानां गृहाणां च।
परिघार्गलानावां वा, अलमुदकद्रोणीनाम् ।।२७।।
पीठकाय चङ्गबेराय, लाङ्गलाय मयिकाय स्यात्।
यन्त्रयष्टयेवा नाभयेवा, गण्डिकायै वाऽलं स्युरेते ।।२८।।
आसनं शयनं यानं, भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये।

भूतोपघातिनीं भाषां, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ।।२९।।

भावार्थ : उद्यान में, पर्वत पर, वन में, प्रयोजनवश जाने पर प्रज्ञावान् मुनि बड़े वृक्षों को देखकर ऐसा न कहे कि ये वृक्ष प्रासाद बनाने में, स्तंभ में, नगरद्वार में, घर बनाने में, परिघ में (नगर द्वार की आगल) अर्गला (गृहद्वार की आगल) नौका बनाने में, उदक द्रोणी (रेंट को-जल को धारण करने वाली काष्ठ की बनावट) आदि बनाने लायक है।

इसी प्रकार ये वृक्ष, पीठ के लिए (पटिये के लिए) काष्ठ पात्र के लिए, हल के लिए, मयिक बोये हुए खेत को सम करने हेतु उपयोग में आनेवाला कृषि का एक उपकरण, कोल्हू यंत्र की लकड़ी (नाडी) नाभि पहिये का मध्य भाग, अहरन के लिए समर्थ है।

इन वृक्षों में कुर्सी, खाट, पलंग, रथ आदि यान, या उपाश्रय उपयोगी काष्ठ है। इस प्रकार पूर्वोक्त सभी प्रकार की भाषा वनस्पतिकाय की एवं उसके आश्रय में रहनेवाले अनेक प्राणियों की घातक होने से प्रज्ञावान् मुनि ऐसी भाषा न बोले ।।२६-२९।।

तहेव गंतुमुज्जाणं, पव्वयाणि वणाणि अ।
रुक्खा महल्ल पेहाए, एवं भासिज्ज पन्नवं ।।३०।।
जाइमंता इमे रुक्खा, दीहवट्टा महालया।
पयायसाला विडिमा, वए दरिसणि त्ति अ ।।३१।।
तहा फलाइं पक्काइं, पायखज्जाइं नो वए।
वेलोइयाइं टालाइं, वेहिमाइं ति नो वए ।।३२।।
असंथडा इमे अंबा, बहुनिव्वडिमा फला।
वइज्ज बहु संभूआ, भूअरूव त्ति वा पुणो ।।३३।।

सं.छा.: तथैव गत्वोद्यानं पर्वतान् वनानि च।
वृक्षान् महतो प्रेक्ष्य, एवं भाषेत प्रज्ञावान्।।३०।।
जातिमन्त एते वृक्षा, दीर्घवृत्ता महालयाः ।
प्रजातशाखा विटपिनः, वदेद्दर्शनीया इति च ।।३१।।
तथा फलानि पक्वानि पाकखाद्यानि नो वदेत् ।
वेलोचित्तानि टालानि, द्वैधिकानीति नो वदेत् ।।३२।।
असमर्था एते आम्राः, बहुनिर्वर्त्तितफलाः ।
वदेद् बहुसम्भूताः, भूतरूपा इति वा पुनः ।।३३।।

भावार्थ : उद्यान, पर्वत, और वन में या वन की ओर जाते हुए बड़े वृक्षों को देखकर प्रयोजनवश बुद्धिमान् साधु इस प्रकार बोले कि - ये वृक्ष उत्तम जातिवंत है, दीर्घ, गोल, अतीव विस्तार युक्त है, विशेष शाखाओं से युक्त है, प्रशाखायुक्त है, दर्शनीय है ।।३०-

३१॥

ये आम्र आदि के फल पक गये हैं, पकाकर खाने योग्य है ऐसा न कहे। ये फल परिपूर्ण पक गये हैं उन्हें उतार लेने चाहिए, ये कोमल है, या ये दो भाग करने लायक है ऐसा न कहें ॥३२॥

प्रयोजनवश कहना पड़े तो ये आमवृक्ष फल धारण करने में अब असमर्थ है। गुठली युक्त अधिक फल वाले हैं। एक साथ उत्पन्न हुए अधिक फलवाले हैं। इस प्रकार निर्दोष भाषा का मुनि प्रयोग करें ॥३३॥

[तहेवो] तहोसहिओ पक्काओ, नीलिआओ छवीइ अ।
लाइमा भज्जिमाउत्ति, पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥३४॥
रूढा बहुसंभूआ, थिरा ओसढा वि अ।
गब्भिआओ पसूआओ, ससाराउ त्ति आलवे ॥३५॥

सं.छा.: तथौषधयः पक्वा, नीलाश्छवय इति च।
लवनवत्यो भर्जनवत्यः, पृथुकभक्ष्या इति नो वदेत् ॥३४॥
रूढा बहुसम्भूताः, स्थिरा उत्सृता अपि च।
गर्भिताः प्रसूताः ससारा इत्यालपेत् ॥३५॥

भावार्थ : चाँवल, गेहूँ आदि औषधियाँ तथा वाल, चना आदि पक गये हैं, काटने योग्य है, भूनने योग्य है, पोंक करके खाने योग्य है। ऐसा साधु न कहे।

प्रयोजनवश कहना पड़े तो ये गेहूँ आदि औषधियाँ अंकूरित है, निष्पन्न प्रायः है, परिपूर्ण रूप से तैयार है, ऊपर उठ गयी हैं, उपघात से निकली है, भूट्टों से सहित है, चाँवल आदि तैयार हो गये हैं इस प्रकार निर्दोष भाषा का प्रयोग् करें ॥३४-३५॥

संखडी आदि के विषय में भाषा का प्रयोग :-

तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जं ति नो वए।
तेणगं वावि वज्झेत्ति, सुतित्थि त्ति अ आवगा ॥३६॥
संखडिं संखडिं बूआ, पणिअट्ठं ति तेणगं।
बहुसमाणि तित्थाणि, आवगाणं विआगरे ॥३७॥

सं.छा.: तथैव सङ्खडिं ज्ञात्वा, कृत्यां कार्यमिति नो वदेत्।
स्तेनकं वाऽपि वध्य इति, सुतीर्था इति च आपगा ॥३६॥
सङ्खडिं सङ्खडिं ब्रूयात्, प्रणितार्थ इति स्तेनकम्।
बहुसमानि तीर्थानि, आपगानां व्यागृणीयात् ॥३७॥

भावार्थ : संखडी जीमनवार, मृत्युभोज, करने लायक है, चोर वध करने लायक है, नदी सुखपूर्वक उतरने योग्य है। ऐसा साधु न कहे ॥३६॥

प्रयोजनवश कहना पड़े तो संखडी को संखडी कहे, चोर को धन हेतु जीवन

की बाजी लगानेवाला, नदी का मार्ग प्रायः सम है। ऐसी भाषा साधु बोले ।।३७।।

नदी के विषय में भाषा का प्रयोग :-

तहा नइओ पुण्णाओ, कायतिज्ज त्ति नो वए।
नावाहिं तारिमाओ त्ति, पाणिपिज्ज त्ति नो वए ।।३८।।
बहुवाहडा अगाहा, बहुसलिलुप्पिलोदगा।
बहुवित्थडोदगा आवि, एवं भासिज्ज पन्नवं ।।३९।।

सं.छा.: तथा नद्यः पूर्णाः, कायतरणीया इति नो वदेत्।
नौभिस्तरणीया इति, प्राणिपेया इति नो वदेत् ।।३८।।
बहुभृता अगाधा, बहुसलिलोत्पीलोदकाः।
बहुविस्तीर्णोदकाश्चापि, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ।।३९।।

भावार्थ : ये नदियाँ भरी हुई हैं, हाथों से तैर सके ऐसी हैं, नौका से दूसरे किनारे जा सके ऐसी हैं, किनारे पर रहकर प्राणी पानी पी सके ऐसी हैं ऐसा साधु न कहे ।।३८।।

प्रयोजनवश कहना पड़े तो प्रायः नदी भरी हुई है। प्रायः अगाध है। बहुसलिला, अधिक जलयुक्त है। दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है। नदी के किनारे आर्द्र हो जाय ऐसी अतीव विस्तारवाली है विस्तीर्ण जलयुक्त है। बुद्धिमान् श्रमण इस प्रकार बोलें ।।३९।।

विविध विषयों में भाषा का प्रयोग :-

तहेव सावज्जं जोगं, परस्सट्ठाए निट्ठिअं।
कीरमाणं ति वा नच्चा, सावज्जं नालवे मुणी ।।४०।।

सं.छा.: तथैव सावद्यं योगं, परस्यार्थाय निष्ठितम्।
क्रियमाणं वा ज्ञात्वा, सावद्यं नालपेन्मुनिः ।।४०।।

भावार्थ : दूसरों के निमित्त से हो रहे एवं पूर्व में किये गये सावद्य कार्यों के विषय में मुनि सावद्य वचन न बोलें ।।४०।।

सुकडित्ति सुपक्किति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे।
सुनिट्ठिए सुलट्ठित्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ।।४१।।

सं.छा.: सुकृतमिति सुपक्वमिति, सुच्छिन्नं सुहृतं सुमृतमिति।
सुनिष्ठितं सुलष्टेति, सावद्यं वर्जयेन्मुनिः ।।४१।।

भावार्थ : सभा भवन अच्छा बनाया या भोजन आदि अच्छा बनाया, सहस्रपाक तेल आदि या घेवर आदि अच्छा पकाया, वन, जंगल, पत्रशाक आदि अच्छा छेदा है, शाक की तिक्तता अच्छी है, लोभी का धन हरण हुआ यह अच्छा हुआ, यह शत्रु मर गया, या यह अच्छा हुआ दाल या सत्तु में घी आदि मिलाया अभिमानी का धन नष्ट हुआ यह

अच्छा हुआ, यह कन्या अत्यंत सुंदर है या चाँवल आदि अच्छे हैं। ऐसे सावद्य वचन साधु न बोले ।।४१।।

पयत्तपक्के (क्क)त्ति व पक्कमालवे,
पयत्तछिन्न त्ति व छिन्नमालवे।
पयत्तलट्ठि (ट्ठ)त्ति व कम्महेउअं,
पहारगाढ त्ति व गाढमालवे ।।४२।।

सं.छा.: प्रयत्नपक्वमिति वा पक्वमालपेत्,
प्रयत्नच्छिन्नमिति वा छिन्नमालपेद्।
प्रयत्नलष्टेति वा कर्महेतुकं,
प्रहारगाढमिति वा गाढमालपेद् ।।४२।।

भावार्थ : प्रयोजनवश कहना हो तो, सुपक्व को प्रयत्नपूर्वक पका हुआ, सुछिन्न को प्रयत्नपूर्वक छेदा हुआ, सुंदर कन्या को दीक्षा देने में आवे तो प्रयत्नपूर्वक पालन करना पडे, सर्व कृतादि क्रिया कर्म हेतुक है, गाढ प्रहार युक्त व्यक्ति को देखकर इसे गाढ प्रहार लगा है इस प्रकार यतना युक्त साधु बोले जिससे अप्रीति आदि दोष उत्पन्न न हो ।।४२।।

सव्वुक्कसं परग्घं वा, अउलं नत्थि एरिसं।
अविक्किअमवत्तव्वं, अविअत्तं चेव नो वए ।।४३।।

सं.छा.: सर्वोत्कृष्टं परार्घं वा, अतुलं नास्तीदृशम् ।
असंस्कृतमवक्तव्यं, अप्रीतिकरं चैव नो वदेत् ।।४३।।

भावार्थ : क्रय, विक्रय आदि व्यवहारिक कार्य में कोई पूछे तो या बिना पूछे, यह पदार्थ सर्वोत्कृष्ट है निसर्गतः सुंदर है, महामूल्यवान है, इसके जैसा दूसरा पदार्थ नहीं है, यह पदार्थ सुलभ है, अनंत गुण युक्त है, अप्रीति कारक है। इस प्रकार साधु न बोले ऐसे वक्तव्य से अधिकरण, अंतराय आदि दोषों की उत्पत्ति होती है ।।४३।।

सव्वमेअं वइस्सामि, सव्वमेअं ति नो वए।
अणुवीई सव्वं सव्वत्थ, एवं भासिज्ज पन्नवं ।।४४।।

सं.छा.: सर्वमेतद्वक्ष्यामि, सर्वमेतदिति नो वदेत्।
अनुचिन्त्य सर्वं सर्वत्र, एवं भाषेत प्रज्ञावान् ।।४४।।

भावार्थ : संदेशों के देने के समय में मैं सर्व कहूंगा या ऐसा ही उन्होंने कहा था ऐसा न कहें। सभी स्थानों पर मृषावाद का दोष न लगे इसका पूर्ण विचारकर बुद्धिमान् साधु भाषा का प्रयोग करें।।४४।।

क्रय-विक्रय के विषय में :-

सुक्कीअं वा सुविक्कीअं, अकिज्जं किज्जमेव वा।

इमं गिण्ह इमं मुंच, पणीयं नो विआगरे ।।४५।।

सं.छा.: सुक्रीतं वा सुविक्रीतं, अक्रेयं क्रेयमेव वा।
इदं गृहाणेदं मुञ्च, पणितं नो व्यागृणीयात् ।।४५।।

भावार्थ : क्रय-विक्रय के विषय में अच्छा खरीदा/अच्छा बेचा/ यह खरीदने योग्य नहीं है। यह खरीदने योग्य है। यह ले लो। यह बेच दो। इस प्रकार साधु न बोलें क्योंकि ऐसे वक्तव्य से अप्रीति अधिकरणादि दोष लगते हैं ।।४५।।

अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए वा विक्कए वि वा।
पणिअट्ठे समुप्पन्ने, अणवज्जं विआगरे ।।४६।।

सं.छा.: अल्पार्घे वा महार्घे वा, क्रये वा विक्रयेऽपि वा।
पणितार्थे समुत्पन्ने, अनवद्यं व्यागृणीयात् ।।४६।।

भावार्थ : अल्प मूल्य वाले, बहुमूल्य वाले पदार्थ के क्रय-विक्रय के विषय में गृहस्थ के प्रश्न में साधु निष्पाप, निर्दोष उत्तर दे कि "इस क्रय-विक्रय के विषय में साधुओं का संबंध न होने से हमें बोलने का अधिकार नहीं है।" ।।४६।।

असंयत को क्या न कहें?

तहेवासंजयं धीरो, आस्स एहि करेहि वा।
सय चिट्ठ वयाहि त्ति, नेवं भासिज्ज पन्नवं ।।४७।।

सं.छा.: तथैवासंयतं धीरः, आस्स्व एहि कुरु वा।
शेष्व तिष्ठ व्रजेति, नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ।।४७।।

भावार्थ : धीर एवं बुद्धिमान् साधुओं को गृहस्थ से बैठो, आओ, यह कार्य करो, सो जाओ, खड़े रहो, जाओ इत्यादि नहीं कहना। ये सभी जीवोपघात के कारण हैं ।।४७।।

'साधु' किसे न कहें? किसे कहें?

बहवे इमे असाहू, लोए वुच्चंति साहुणो।
न लवे असाहूं साहुत्ति, साहुं साहुत्ति आलवे ।।४८।।
नाण-दंसण-संपन्नं, संजमे अ तवे रयं।
एवं गुण-समाउत्तं, संजयं साहुमालवे ।।४९।।

सं.छा.: बहव एतेऽसाधवः, लोके उच्यन्ते साधवः।
नालपेदसाधुं साधुमिति, साधुं साधुमित्यालपेत् ।।४८।।
ज्ञानदर्शनसम्पन्नं, संयमे च तपसि रतम्।
एवंगुणसमायुक्तं, संयतं साधुमालपेत् ।।४९।।

भावार्थ : जन समुदाय रूप लोक में बहुत सारे असाधु साधु के नाम से बुलाये जाते हैं (जो मोक्षमार्ग की साधना न करने से असाधु हैं) ऐसे असाधु को मुनि, साधु न कहें। पर

जो मोक्ष मार्ग का साधक साधु है उसे ही साधु कहें।

ज्ञान-दर्शन सहित संयम एवं तप में रक्त हो ऐसे गुण समायुक्त संयमी साधु को साधु कहें। पर मात्र द्रव्य लिंगधारी को साधु न कहें ।।४८-४९।।

युद्ध के समय भाषा का उपयोग :-

देवाणं मणुआणं च, तिरिआणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ।।५०।।

सं.छा.: देवानां मनुजानां च, तिरश्चां च विग्रहे।
अमुकानां जयो भवतु, मा वा भवत्विति नो वदेत् ।।५०।।

भावार्थ : देव, मनुष्य या तिर्यंचों को आपस में युद्ध के समय में किसी का जय एवं किसी का पराजय हो ऐसा साधु न बोले ।।५०।।

ऋतुकाल में भाषा का प्रयोग :-

वाओ वुट्ठं च सीउण्हं, खेमं धायं सिवं ति वा।
कया णु हुज्ज एआणि? मा वा होउ त्ति नो वए ।।५१।।

सं.छा.: वातो वृष्टं च शीतोष्णं, क्षेमं ध्रातं शिवमिति वा।
कदा नु भवेयुरेतानि? मा वा भवेयुरिति नो वदेत् ।।५१।।

भावार्थ : गर्मी की मौसम में पवन, वर्षा की ऋतु में वर्षा एवं शीत ऋतु में सर्दी, ताप, क्षेम(रक्षण) सुकाल, उपद्रव रहितता आदि कब होंगे या ये कब बंद होंगे इत्यादि न कहें। ऐसा कहने से अधिकरणादि दोष, प्राणी पीड़न एवं आर्त्त ध्यानादि दोष लगते हैं ।।५१।।

तहेव मेहं व नहं व माणवं, न देवदेवत्ति गिरं वइज्जा।
समुच्छिए उन्नए वा पओए, वइज्ज वा वुट्ठ बलाहए त्ति।।५२।।

सं.छा.: तथैव मेघं वा नभो वा मानवं, न देवदेव इति गिरं वदेत्।
सम्मूर्च्छित (समुच्छ्रित) उन्नतो वा पयोदो,
वदेद्वा वृष्टो बलाहक इति ।।५२।।

भावार्थ : इसी प्रकार मेघ, आकाश और राजादि को देखकर यह देव है ऐसा न कहें पर यह मेघ उमड़ रहा है, उन्नत हो रहा है, वर्षा हुई है, ऐसा कहना। मेघ, आकाश, राजादि को देव कहने से मिथ्यात्व एवं लघुत्वादि दोष होते हैं ।।५२।।

अंतलिक्ख त्ति णं बूआ, गुज्झाणुचरिअ त्ति अ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स, रिद्धिमंतं ति आलवे ।।५३।।

सं.छा.: अन्तरिक्षमिति वै ब्रूयाद्, गुह्यानुचरितमिति च।
ऋद्धिमन्तं नरं दृष्ट्वा, ऋद्धिमानयमित्यालपेत् ।।५३।।

भावार्थ : आकाश को अंतरिक्ष, मेघ को गुह्यानुचरित (देव से सेवित) कहें। ये दो शब्द

वर्षा के लिए कहना और ऋद्धि युक्त व्यक्ति को देखकर यह ऋद्धिमान् है ऐसा कहना ।।५३।।

वाक्शुद्धि अध्ययन का उपसंहार :-

तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वइज्जा ।।५४।।

सं.छा.: तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः, अवधारिणी या च परोपघातिनी।
तां क्रोधाल्लोभाद्भयाद्धास्याद्वा, न हसन्नपि गिरं वदेत् ।।५४।।

भावार्थ : विशेष में मुनि सावद्य कार्य को अनुमोदनीय, अवधारिणी (संदिग्ध के विषय में असंदिग्ध) निश्चयात्मक या संशयकारी, परउपघातकारी भाषा का प्रयोग न करें। क्रोध से, लोभ से, भय से, हास्य से एवं किसी की हंसी मजाक करते हुए नहीं बोलना। ऐसे बोलने से अशुभ् कर्म का विपुल बंध होता है।

सुवक्कसुद्धिं समुपेहिआ मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मिअं अदुट्ठं, अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहइ पसंसणं ।।५५।।

सं.छा.: सद्वाक्यशुद्धि समुत्प्रेक्ष्य मुनिः,
गिरं च दुष्टां परिवर्जयेत्सदा।
मितमदुष्टमनुविचिन्त्य भाषमाणः,
सतां मध्ये लभते प्रशंसनम् ।।५५।।

भावार्थ : इस प्रकार मुनियों को उत्तम वाक्शुद्धि को ज्ञातकर दुष्ट सदोष भाषा नहीं बोलनी चाहिए, पर मित भाषा, वह भी निर्दोषवाणी, विचारपूर्वक बोलनी चाहिए। ऐसे बोलने से वह मुनि सत्पुरुषों में प्रशंसा पात्र होता है। प्रशंसा प्राप्त करता है।

भासाइ दोसे अ गुणे अ जाणिआ,
तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वइज्ज बुद्धे हिअमाणुलोमिअं ।।५६।।

सं.छा.: भाषाया दोषांश्च गुणांश्च ज्ञात्वा, तस्याश्च दुष्टायाः परिवर्जकः सदा।
षट्सु संयतः श्रामण्ये सदा यतो, वदेद् बुद्धो हितमानुलोमिकम् ।।५६।।

भावार्थ : भाषा के दोष एवं गुणों को यथार्थ जानकर, दुष्ट भाषा का वर्जक, छज्जीव

निकाय में संयमवान् और चारित्र पालन में उद्यमवंत ज्ञानी साधु सदोष भाषा का निरंतर त्याग करें एवं हितकारी, परिणाम में सुंदर एवं अनुलोमिक/अनुकूल/मधुर भाषा का प्रयोग करें ।।५६।।

परिक्खभासी सुसमाहि-इंदिए,
चउक्कसाया-वगए अणिस्सिए।
स निद्धुणे धुण्णमलं पुरेकडं,
आराहए लोगमिणं तहा परं ।।५७।। त्ति बेमि ।।

सं.छा.: परीक्ष्यभाषी सुसमाहितेन्द्रियः,
अपगतचतुष्कषायोऽनिश्रितः।
स निर्धूय धूतमलं पुराकृतं,
आराधयति लोकमेनं तथा परमिति ब्रवीमि ।।५७।।
इति सद्वाक्यशुद्धयध्ययनं समाप्तम् ।।७।।

भावार्थ : गुण, दोष की परीक्षा कर भाषक, इंद्रियों को वश में रखनेवाला, क्रोधादि चार कषाय पर नियंत्रण करनेवाला, द्रव्य भाव निश्रा रहित (ममत्व के बंधन से रहित) ऐसे महात्मा जन्मान्तर के पूर्वकृत पापमल को नष्टकर वाणी संयम से वर्तमान एवं भावीलोक की आराधना करता है।

श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी कहते हैं कि हे मनक! ऐसा मैं अपनी बुद्धि से नहीं कहता हूँ तीर्थंकर गणधर आदि महर्षियों के कथनानुसार कहता हूँ। ।।५७।।

सुवाक्यशुद्धि नामक सप्तम अध्ययन समाप्त ।।७।।

❋ ❋ ❋

८ आचारप्रणिधिनामकं अष्टमं अध्ययनम्

संबंध - पूर्व के अध्ययन में भाषा शुद्धि का वर्णन किया है। भाषा शुद्धि आचार पालक भव्यात्मा के लिए ही आत्मोपकारी है। आचारहीन व्यक्ति भाषा शुद्धि का उपयोग रखता है तो भी उसके लिए वह माया युक्त हो जाने से अशुभ कर्म बन्ध का कारण हो सकती है। भाषाशुद्धि आचार पालन युक्त ही उपयोगी है। अतः अष्टम अध्ययन में आचार की, साध्वाचार की प्ररूपणा श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी म.सा. करते हैं।

अष्टम आचार प्रणिधि अध्ययन उपयोगी शब्दार्थ - (आयारप्पणिहिं) आचारनिधि, आचार में दृढ मानसिक संकल्प (भे) तुमको (उदाहरिस्सामि) कहुंगा ।।१।। (इइ) इस प्रकार ।।२।। (अच्छण-जोअण) जीवरक्षणयुक्त (होअव्वयं सिआ) होना चाहिए ।।३।। (लेलुं) पत्थर का ढेला (भिंदे) टुकड़े करे (संलिहे) घिसे (सुसमाहिए) निर्मल स्वभाव युक्त ।।४।। (सिलावुट्ठं) ओले ।।५।। (उदउल्लं) जलाद्र ।।६।। (अलायं) अलात जलती

लकड़ी (अच्चिं) अग्नि से दूर हुई ज्वाला ।।८।। (सिणेह) स्नेह-सूक्ष्म (पुष्पसुहुमं) पुष्प-सूक्ष्म (पाणुत्तिंगं) प्राणी-सूक्ष्म, उत्तिंग-सूक्ष्म कीटिका नगर ।।१५।। (धुवं) नित्य ।।१७।। (सिंघाणजल्लिअं) नाक, कान का मेल ।।१८।। (परागारं) गृहस्थ के घर में ।।१९।। (अक्खाड) कहने के लिए (अरिहइ) योग्य है ।।२०।। (केण उवाएण) कोइ भी उपाय से ।।२१।। (निट्ठाणं) सर्व गुण से युक्त आहार (रसनिज्जूढं) नीरस आहार (भद्दगं) अच्छा ।।२२।। (उंछं) धनाढ्य के घर ।।२३।। (आसुस्तं) क्रोध के प्रति, (प्रेमं) राग (नाभिनिवेसए) न करे, (अहियासए) सहन करे ।।२६।। (अत्थंगयंमि) अस्त हो जाने पर (आइच्चे) सूर्य (पुरत्था) सुबह में (अणुग्गए) उदय होने के पूर्व ।।२८।। (अतिंतिणे) प्रलाप न करें, (अचवले) स्थिर (उअरे दंते) स्वयं के पेट को वश में रखनेवाले (न खिंसए) निंदा न करे ।।२९।। (अत्ताणं) स्वयं का (समुक्कसे) प्रशंसा ।।३०।। (कट्टु) करके, (आहम्मिअं) अधार्मिक (संवरे) आलोचना करे ।।३१।। (परक्कमं) सेवनकर, (सुई) पवित्र (वियडभावे) प्रकट भाव के धारक (असंसत्ते) अप्रतिबद्ध ।।३२।। (अमोघं) सफल (उवव्वायए) आचरण में लेना ।।३३।। (अणिग्गहिआ) वश न किये हुए, अनिगृहीत (कसिणा) संपूर्ण (पुणब्भवस्स) पूनर्जन्म ।।४०।। (रायणिएसु) रत्नाधिक (पउंजे) करे (धुवसीलयं) निश्चयशीयल को, (कुम्मुव्व) कूर्मसम (अलीण पलीण गुत्तो) आलीन-प्रलीन-गुप्त, अंगोपांगों को सम्यक् प्रकार से रखने वाला (परक्कमिज्जा) प्रवृत्त हो ।।४१।। (मीहो) एक दूसरे के साथ, (सप्पहासं) हँसी-मजाक के वचन ।।४२।। (जुंजे) जोड़े (अनलसो) आलसरहित ।।४३।। (पारत्त) परलोक (पज्जुवासिज्जा) सेवा करे (अत्थविणिच्छयं) अर्थ के निर्णय को ।।४४।। (पणिहाय) प्रणिधान एकाग्रचित्त ।।४५।। (किच्चाण) आचार्य जो उनके (उरं समासिज्ज) जंघा पर जंघा चढाकर (गुरूणंतिए) गुरु के पास ।।४६।। (पिट्ठिमंसं) परोक्ष में निंदा ।।४७।। (अहिअगामिणीं) अहित करनारी ।।४८।। (पडिपुन्नं) स्पष्ट उच्चार युक्त, प्रकट ऐसी (अयंपिरं) न ऊँचे (अणुव्विग्गं) अनुद्विग्न युक्त (निसिर) बोले (अत्तवं) चेतनायुक्त/चेतनावंत ।।४९।। (अहिज्जगं) अध्ययन करनेवाले (वायविक्खलिअं) वचन बोलते समय स्खलित होना, भूल जाना ।।५०।। (भूआहिगरणं पयं) प्राणीओं के लिए पीड़ा का स्थानक ।।५१।। (अन्नट्ठं) अन्य के हेतु, (पगडं) किया हुआ (लयणं) स्थान (भइज्ज) सेवे ।।५२।। (विवित्ता) दूसरे से रहित ।।५३।। (कुक्कुड पोअस्स) मुर्गे के बच्चे को (कुललओ) बिल्ली से (विग्गहओ) शरीर से ।।५४।। (चित्त भित्तिं) चित्रित (निज्झाए) देखे (सुअलंकिअं) अच्छे अलंकार युक्त (भक्खरं-पिव) सूर्य को जैसे (पडिसमाहरे) खींच ले ।।५५।। (पडिछिन्नं) कटे हुए ।।५६।। (अत्तगवेसिस्स) आत्मार्थी के (तालउडं) तालपूट ।।५७।। (पच्चंगं) प्रत्यंग (चारुल्लविअं) मनोहर आलाप (पेहिअं) दृष्टि को ।।५८।। (मप्पुन्नेसु) मनोहरों में (नाभिनिवेसए) न स्थापन करें (अणिच्चं) अनित्य ।।५९।। (विणीअतण्हो) तृष्णा को दूर करता हुआ (सीईभूण्ण)

शीतल होकर ।।६०।। (निक्खंतो) निकला है (अणुपालिज्जा) पालन करे (आयरिअसंमए) आचार्य को बहु संयत ।।६१।। (सेणाइ) सेना से (समत्तमाउहे) तपस्या आदि आयुधयुक्त (अहिट्ठिए) करने वाला ऐसा साधु (सूरे) शूरवीर पुरुष के जैसा (परेसिं) दूसरें शत्रुओं को ।।६२।। (सज्झाण) सद्ध्यान (अपावभावस्स) शुद्ध चित्तयुक्त (समीरिअं) अग्नि से तपा हुआ (रूप्पमल्लं) चांदी का मल (जोइणा) अग्नि से ।।६३।। (अममे) ममता रहित (विरायइ) शोभता है (कम्मघणंमि) कर्मरूपी बादल (अवगए) दूर होने पर (कसिणब्भपुडावगमे) समग्र बादल दूर होने पर ।।६४।।

गुरु कथन :-

आयार-प्पणिहिं लद्धुं, जहा कायव्व भिक्खूणा।
तं भे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे ।।१।।

सं.छा.: आचारप्रणिधिं लब्ध्वा, यथा कर्त्तव्यं भिक्षुणा।
तं भवद्भ्य उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ।।१।।

भावार्थ : श्री महावीर परमात्मा से प्राप्त आचार प्रणिधि नामक अध्ययन में श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्यों से कहते हैं कि 'मुझे' जो आचार प्रणिधि प्राप्त हुई वह मैं अनुक्रम से कहुंगा। सो तुम सुनो।' उस आचार निधि को प्राप्तकर, जानकर, मुनिओं को उस अनुसार पूर्ण रूप से क्रिया करनी चाहिए ।।१।।

जीव :-

पुढवी-दग-अगणिमारुअ, तण-रुक्ख-सबीयगा।
तसा अ पाणा जीव त्ति, इई वुत्तं महेसिणा ।।२।।

सं.छा.: पृथिव्युदकाग्निमारुतास्तृणरुक्षाः सबीजकाः ।
त्रसाश्च प्राणिनो जीवा इति, इति प्रोक्तं महर्षिणा ।।२।।

भावार्थ : पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मूल से बीज तक तृण, वृक्ष और दो इंद्रियादि त्रस प्राणी, जीव हैं। इन सब में जीव है। ऐसा श्री वर्धमान स्वामीने कहा है।।२।।

जीव रक्षा - पृथ्वीकाय रक्षा :-

तेसिं अच्छण-जोएण, निच्चं होअव्वयं सिआ ।
मणसा काय-वक्केणं, एवं हवइ संजए ।।३।।

सं.छा.: तेषामक्षणयोगेन, नित्यं भवितव्यं स्यात्।
मनसा कायवाक्येन, एवं भवति संयतः ।।३।।

भावार्थ : इस कारण से भिक्षु को मन, वचन एवं काया से पृथ्वी आदि जीवों की रक्षा करनेवाला होना चाहिए। पृथ्वी आदि जीवों की रक्षा करनेवाला (अहिंसक रहनेवाला) ही संयमी, संयत होता है।।३।।

पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिंदे न संलिहे।

तिविहेण करण-जोएण, संजए सुसमाहिए ।।४।।

सं.छा.: पृथिवीं भित्तिं शिलां लेष्टुं, नैव भिन्द्याद् नो संलिखेत् ।
त्रिविधेन करणयोगेन, संयतः सुसमाहितः ।।४।।

भावार्थ : सुविहित मुनि शुद्ध पृथ्वी, नदी किनारे की दीवार दरार, शिला और पत्थर के टुकड़े जो सचित्त हो उसका तीन करण तीन योग से छेदन, भेदन न करें, न कुरदे (खोदे नहीं) ।।४।।

सुद्धपुढवीए न निसीए, ससरक्खंमि अ आसणे।
पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ।।५।।

सं.छा.: शुद्धपृथिव्यां न निषीदेत्, सरजस्के च आसने।
प्रमृज्य निषीदेत्, ज्ञात्वा याचित्वा यस्यावग्रहम् ।।५।।

भावार्थ : मुनि सचित्त पृथ्वी पर, सचित्त रज युक्त आसन पर न बैठें, पर अचित्त पृथ्वी आसन आदि हो तो आवश्यकता होने पर मालिक की अनुज्ञा लेकर, प्रमार्जन करके बैठें ।।५।।

अप्काय रक्षा :-

सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि अ।
उसिणोदगं तत्त-फासुअं, पडिगाहिज्ज संजए ।।६।।

सं.छा.: शीतोदकं न सेवेत, शिलावृष्टं हिमानि च।
उष्णोदकं तप्तप्रासुकं, प्रतिगृह्णीयात्संयतः ।।६।।

भावार्थ : मुनि, सचित्त जल, ओले, बरसात का जल, हिम, बरफ के पानी का उपयोग न करें, पर उष्ण जल तीन बार उबाला हुआ, अचित्त हो उसका उपयोग करें ।।६।।

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभुअं, नो णं संघट्टए मुणी ।।७।।

सं.छा.: उदकार्द्रमात्मनः कायं, नैव पुञ्छयेन्न संलिखेत्।
सम्प्रेक्ष्य तथाभूतं, नैव सङ्घट्टयेन्मुनिः ।।७।।

भावार्थ : सचित्त जल से आद्र स्व शरीर को न पोंछे और हाथ आदि से न लुंछे। वैसे शरीर का किंचित् स्पर्श भी न करें। अर्थात् हाथ भी न लगावें वैसा ही रहने दें ।।७।।

भीगे शरीर सहित उपाश्रय में आकर एक ओर खड़ा हो जाय कुदरतन शरीर सुख जाने के बाद दूसरा कार्य करें। भीगे वस्त्र एक ओर रख दे, सुख जाने के बाद उसे हाथ लगावें।

अग्निकाय की जयणा :-

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइयं।

न उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ।।८।।

सं.छा.: अङ्गारमग्निमर्चिः, अलातं वा सज्योतिः।
नोत्सिञ्चेन्न घट्टयेन्नैनं निर्वापयेन्मुनिः ।।८।।

भावार्थ : बिना ज्वाला के, अंगारे, अग्नि, लोहे के तपे हुए गोले में रही हुई अर्चि, ज्वालायुक्त अग्नि, अलात, जलती लकड़ी आदि को न प्रज्वलित करें, न स्पर्श करें, न बुझायें। किसी प्रकार से अग्नि काय का उपयोग न करें। (तीन करण तीन योग से) ।।८।।

वाउकाय की रक्षा :-

तालिअंटेण पत्तेण, साहाए विहुयणेण वा।
न वीइज्ज अप्पणो कायं, बाहिरं वा वि पुग्गलं ।।९।।

सं.छा.: तालवृन्तेन पत्रेण, शाखया विधूवनेन वा।
न वीजयेदात्मनः कायं, बाह्यं वापि पुद्गलम् ।।९।।

भावार्थ : गर्मी के कारण मुनि वींजन ताड़पत्र के पंखे से, कमल आदि के पत्तों से, वृंक्ष की शाखा से, मोरपींछी से स्व शरीर को हवा न करें, बाहर के अन्य पुद्गल कों, चाय, दूध, पानी को ठंडा बनाने हेतु हवा न करें ।।९।।

वनस्पतिकाय की रक्षा :-

तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सई।
आमगं विविहं बीअं, मणसा वि न पत्थए ।।१०।।

सं.छा.: तृणरुक्षं न छिन्द्यात्, फलं मूलं च कस्यचित्।
आमकं विविधं बीजं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ।।१०।।

भावार्थ : मुनि तृण, वृक्ष और किसी भी जाति के फल एवं मूल का छेदन भेदन न करें एवं विविध प्रकार के कच्चे बीजों को ग्रहण करने हेतु मन में विचार भी न करें ।।१०।।

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिएसु वा।
उदगंमि तहा निच्चं, उत्तिंग-पणगेसु वा ।।११।।

सं.छा.: गहनेषु न तिष्ठेद्, बीजेषु हरितेषु वा।
उदके तथा नित्यं, उत्तिङ्गपनकयोर्वा ।।११।।

भावार्थ : मुनि जहां खड़े रहने से वनस्पति का संघट्टा होता हो ऐसे वन निकुंजों (गाढझाड़ी) में खड़ा न रहे बीज, हरी वनस्पति, उदक या अनंत कायिक वनस्पति, उत्तिंग सर्पछत्र, पांचवर्ण की सेवाल/काई पर खड़ा न रहे ।।११।।

त्रसकाय की रक्षा :-

तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं ।।१२।।

सं.छा.: त्रसप्राणिनो न हिंस्याद्, वाचाऽथवा कर्मणा।
उपरतः सर्वभूतेषु, पश्येद्विविधं जगत् ।।१२।।

भावार्थ : मुनि वचन या काया से उपलक्षण से, मन से भी त्रस जीव की हिंसा न करें। सभी प्राणीयों की हिंसा से उपरत होकर, निर्वेद की वृद्धि हेतु कर्म से पराधीन नरकादि गति रूप विविध प्रकार के जगत् के जीवों के विषय में विचार करें। आत्मौपम्य दृष्टि से देखें। गहराई से देखें ।।१२।।

अष्ट प्रकार के सूक्ष्म जीवों का स्वरूप :-

अट्ठ सुहुमाई पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा ।।१३।।

सं.छा.: अष्टौ सूक्ष्माणि प्रेक्ष्य, यानि ज्ञात्वा संयतः ।
दयाधिकारी भूतेषु, आसीत तिष्ठेच्छयीत वा ।।१३।।

भावार्थ : मुनि को आगे कहे जाने वाले आठ जाति के सूक्ष्म जीवों को जानना चाहिए। इन सूक्ष्म जीवों को ज़ाननेवाला मुनि जीव दया का अधिकारी बनता है। इन सूक्ष्म जीवों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद बैठना, उठना, खड़े रहना एवं सोना आदि क्रिया निर्दोष रूप से हो सकती है ।।१३।।

कयराइं अट्ठ सुहुमाइं? जाइं पुच्छिज्ज संजए।
ईमाई ताई मेहावी, आईखिज्ज विअक्खणे ।।१४।।

सं.छा.: कतराण्यष्टौ सूक्ष्माणि, यानि पृच्छेत्संयतः?
अमूनि तानि मेधावी, आचक्षीत विचक्षणः ।।१४।।

भावार्थ : वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से हैं? ऐसा संयमी शिष्य के प्रश्न के प्रत्युत्तर में विचक्षण मेधावी आचार्य गुरु भगवंत निम्न प्रकार से शिष्य का समाधान करें ।।१४।।

वे आठ सूक्ष्म निम्न प्रकार से हैं :-

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिंगं तहेव य।
पणगं बीअ-हरिअं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ।।१५।।
एवमेआणि जाणित्ता, सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदिअ-समाहिए ।।१६।।

सं.छा.: स्नेहं पुष्पसूक्ष्मं च, प्राण्युत्तिङ्गं तथैव च।
पनकं बीजहरितं च, अण्डसूक्ष्मं चाष्टमम् ।।१५।।
एवमेतानि ज्ञात्वा, सर्वभावेन संयतः।
अप्रमत्तो यतेत नित्यं, सर्वेन्द्रियसमाहितः ।।१६।।

भावार्थ : आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव निम्नांकित हैं -

(१) स्नेह सूक्ष्म हिम कण।

(२) पुष्प सूक्ष्म बड़ आदि के पुष्प।

(३) प्राणी सूक्ष्म : चले तब दिखायी दे स्थिर हो तब न दिखायी दे या रजकण के रूप में दिखायी दे।

(४) उत्तिंग सूक्ष्म : कीटिका नगर में रही हुई चिंटियाँ और दूसरे भी सूक्ष्म जीव।

(५) पनक सूक्ष्म : पंचवर्ण की काई, सेवाल, लीलफूल।

(६) बीज सूक्ष्म : तूष के बीज आदि।

(७) हरित सूक्ष्म : उत्पन्न होते समय पृथ्वी के समान वर्ण युक्त वनस्पति जीव।

(८) अंड सूक्ष्म : मक्षिका आदि के सूक्ष्म अंडे आदि।

सभी इंद्रियों में राग द्वेष रहित प्रवृत्त मुनि उपरोक्त अष्ट प्रकार के जीवों को जानकर अप्रमत्त भाव से शक्ति अनुसार उनकी रक्षा के लिए प्रयत्न करें ।।१५-१६।।

पडिलेहण के द्वारा जीव रक्षा :-

धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं।
सिज्ज-मुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवासणं ।।१७।।

सं.छा.: ध्रुवं च प्रत्युपेक्षेत, योगे सति पात्रकम्बलम्।
शय्यामुच्चारभूमिं च, संस्तारकमथवाऽऽसनम् ।।१७।।

भावार्थ : स्वशक्ति होते हुए मुनि को प्रतिलेखना के समय पात्र, कंबल, उपाश्रय, स्थंडिल भूमि, संस्तारक और आसन आदि उपकरण की शास्त्रोक्त रीति से प्रतिलेखनाकर, अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिए ।।१७।।

परिष्ठापनिका समिति से जीव जयणा :-

उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लिअं।
फासुअं पडिलेहित्ता, परिट्ठाविज्ज संजए ।।१८।।

सं.छा.: उच्चारं प्रस्रवणं, श्लेष्मं सिङ्घाणजल्लिकम्।
प्रासुकं प्रत्युपेक्ष्य, परिस्थापयेत्संयतः ।।१८।।

भावार्थ : मुनि भूमि का प्रतिलेखनकर, जहां जीव रहित भूमि हो वहां, बड़ी नीति, लघु नीति, कफ (श्लेष्म) कान एवं नाक का मेल, आदि परठने योग्य पदार्थों को परठकर साध्वाचार का पालन करें ।।१८।।

गृहस्थ के घर गोचरी के समय जीव जयणा :-

पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोअणस्स वा।
जयं चिट्ठे मिअं भासे, न य रूवेसु मणं करे ।।१९।।

सं.छा.: प्रविश्य परागारं, पानार्थं भोजनस्य वा।

यतं तिष्ठेन्मितं भाषेत, न च रूपेषु मनः कुर्यात् ।।१९।।

भावार्थ : आहार पानी के लिए गृहस्थ के घर गया हुआ गीतार्थ मुनि वहां जयणापूर्वक खड़ा रहे, जयणापूर्वक मित/कम बोले, दातार स्त्री आदि की ओर मन केन्द्रित न करें। रूप न निरखें। इस प्रकार साध्वाचार का पालन करें ।।१९।।

रसनेन्द्रिय से जीव जयणा :-

बहुं सुणेहि कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छई।
न य दिट्ठं सुअं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ ।।२०।।

सं.छा.: बहु शृणोति कर्णाभ्यां, बहु अक्षिभ्यां पश्यति।
न च दृष्टं श्रुतं सर्वं, भिक्षुराख्यातुमर्हति ।।२०।।

भावार्थ : रत्नत्रयी आराधनार्थे स्थान से बाहर गये हुए अथवा उसी स्थान पर मुनि ने कानों से बहुत सुना, आँखों से बहुत देखा वह सब, स्व पर अहितकारी सुना हुआ या देखा हुआ दूसरों को नहीं कहना चाहिए ।।२०।।

सुअं वा जई वा दिट्ठं, न लविज्जोवघाइअं।
न य केण उवाएणं, गिहिजोगं समायरे ।।२१।।

सं.छा.: श्रुतं वा यदि वा दृष्टं, नालपेदौपघातिकम्।
न च केनचिदुपायेन, गृहियोगं समाचरेत् ।।२१।।

भावार्थ : मुनि श्रवण किया हुआ या देखा हुआ जो परोपघातकारी हो उसे न कहें एवं किसी भी उपाय से गृहस्थोचित कार्य का आचरण न करें ।।२१।।

निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगंति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ।।२२।।

सं.छा.: निष्ठानं रसनिर्यूढं, भद्रकं पापकमिति वा।
पृष्टो वाऽपि अपृष्टो वा, लाभालाभं न निर्दिशेत् ।।२२।।

भावार्थ : मुनि किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह रसयुक्त आहार सुंदर है, रस रहित आहार खराब है ऐसा न कहें एवं सरस निरस आहार की प्राप्ति में या न मिले तो यह नगर अच्छा या बूरा न कहें। दाता अच्छे हैं या बूरे हैं ऐसा न कहें ।।२२।।

न य भोअणंमि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो।
अफासुअं न भुंजिज्जा, कीय-मुद्देसि-आहडं ।।२३।।

सं.छा.: न च भोजने गृद्धः, चरेदुञ्छमजल्पनशीलः।
अप्रासुकं न भुञ्जीत, क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ।।२३।।

भावार्थ : आहार लुब्ध बनकर धनवानों के या विशिष्ट घरों में ही न जाय। परंतु मौनपूर्वक धर्मलाभ मात्र का उच्चारण करते हुए सभी घरों में जाय, अनेक घरों से

थोड़ा-थोड़ा ले। अप्रासुक, क्रीत, उद्देशिक, सामने लाया हुआ (आहृत) आहार प्रमादवश आ गया हो तो भी न खाये ।।२३।।

सन्निधि के त्याग से जीव जयणा :-

संनिहिं च न कुव्विज्जा, अणुमायं पि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए ।।२४।।

सं.छा.: सन्निधिं च न कुर्यात्, अणुमात्रमपि संयतः।
मुधाजीवी असम्बद्धः, भवेज्जगन्निश्रितः ।।२४।।

भावार्थ : मुनि लेश/अंश मात्र भी आहारादि का संचय न करें, निष्काम जीवी, अलिप्त मुनि ग्राम कुल आदि की निश्रा में न रहकर जनपद की निश्रा में रहकर जगत् जीव की जयणा का ध्येय रक्खें ।।२४।।

साध्वाचार पालन से जीव जयणा :-

लूहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिआ।
आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चाणं जिण-सासणं ।।२५।।

सं.छा.: रूक्षवृत्तिः सुसन्तुष्टः, अल्पेच्छः सुभरः स्यात्।
आसुरत्वं न गच्छेत्, श्रुत्वा जिनशासनम् ।।२५।।

भावार्थ : मुनि रुक्ष वृत्ति युक्त, सुसंतुष्ट (संतोषी), अल्पेच्छु, अल्प इच्छावाला, अल्प आहार वाला बनें और क्रोध विपाक के उपदेशक श्री वीतरागदेव के वचन को श्रवण करके मुनि को क्रोध नहीं करना चाहिए ।।२५।।

कन्नसुक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहिआसए ।।२६।।

सं.छा.: कर्णसौख्येषु शब्देषु, प्रेम नाभिनिवेशयेत्।
दारुणं कर्कशं स्पर्शं, कायेनाधिसहेत ।।२६।।

भावार्थ : मुनि कर्णेन्द्रिय को सुखकारी वीणा, वाजिंत्र, रेडियो, लाउडस्पीकर आदि के शब्दों को श्रवणकर उसमें राग न करें (द्वेष भी न करें) एवं दारुण तथा कर्कश स्पर्श को काया से, स्पर्शेन्द्रिय से सहन करें ।।२६।।

खुहं पिवासं दुस्सिज्जं, सी-उण्हं अरइं भयं।
अहिआसे अवहिओ, देहदुक्खं महाफलं ।।२७।।

सं.छा.: क्षुधं पिपासां दुःशय्यां, शीतोष्णमरतिं भयम्।
अधिसहेताऽव्यथितः, देहदुक्खं महाफलम् ।।२७।।

भावार्थ : मुनि क्षुधा, प्यास, विषम भूमि, शीत, उष्ण ताप, अरति एवं भय को अदीन मन से, अव्यथित चित्त से सहन करें। क्योंकि भगवंत ने कहा है 'देह में उत्पन्न

होनेवाले कष्टों को सम्यक् प्रकार से सहन करना, महान फल दायक है ।।२७।।

अत्थंगयंमि आईच्चे, पुरत्था अ अणुग्गए।
आहार-माईयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ।।२८।।

सं.छा.: अस्तंगत आदित्ये, पुरस्ताच्चानुद्गते।
आहारादिकं सर्वं, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ।।२८।।

भावार्थ : सूर्यास्त के बाद से सूर्योदय के पूर्व तक चारों प्रकार के आहार में से कुछ भी खाने की इच्छा मन से भी न करें ।।२८।।

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मिआसणे।
हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिंसए ।।२९।।

सं.छा.: अतिन्तिणोऽचपलः, अल्पभाषी मिताशनः।
भवेदुदरे दान्तः, स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत् ।।२९।।

भावार्थ : मुनि दिन में आहार न मिले, निरस मिले तब प्रलाप न करे। स्थिर, अल्पभाषी मिताहारी, और उदर का दमन करनेवाला हो। अल्प मिलने पर नगर या गांव की निन्दा करनेवाला न हो ।।२९।।

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुअलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवस्सि-बुद्धिए ।।३०।।

सं.छा.: न बाह्यं परिभवेद्, आत्मानं न समुत्कर्षयेत्।
श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत, जात्या तपसान बुद्धया ।।३०।।

भावार्थ : जिस प्रकार मुनि किसी का तिरस्कार न करें, उसी प्रकार स्वयं का उत्कर्ष भी न करें। श्रुत लाभ (कुल-बल-रूप) जाति-तप एवं विद्या का मद भी न करें ।।३०।।

से जाणमजाणं वा, कट्टु आहम्मिअं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बीअं तं न समायरे ।।३१।।

सं.छा.: स जानन्नजानन् वा, कृत्वाऽधार्मिकं पदम्।
संवरेत् क्षिप्रमात्मानं, द्वितीयं तन्न समाचरेत् ।।३१।।

भावार्थ : मुनि राग-द्वेष के कारण जान अनजान में मूल-उत्तर गुण की विराधना कर ले तो उस परिणाम से शीघ्र दूर होकर आलोचनादि ग्रहणकर दूसरी बार ऐसा न करें।।३१।।

अणायारं परक्कम्मं, नेव गूहे न निन्हवे।
सुइ सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए ।।३२।।

सं.छा.: अनाचारं पराक्रम्य, नैव गूहयेन्न निह्नुवीत।
शुचिः सदा विकटभावः, असंसक्तो जितेन्द्रियः ।।३२।।

भावार्थ : निरंतर पवित्र बुद्धिवाले, प्रकटभाववाले, अप्रतिबद्ध, और जितेन्द्रिय मुनि

पूर्व के अशुभ कर्म के उदय से अनाचार सेवन कर ले तो अति शीघ्र गुरु के पास आलोचना लेवे उसको छूपावे नहीं और मैंने नहीं किया ऐसा अपलाप भी न करें।।३२।।

अमोहं वयणं कुज्जा, आयरिअस्स महप्पणो।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए ।।३३।।

सं.छा.: अमोघं वचनं कुर्याद्, आचार्याणां महात्मनाम्।
तत्परिगृह्य वाचा, कर्मणोपपादयेत् ।।३३।।

भावार्थ : मुनि को महात्मा, आचार्य भगवंत के वचन आज्ञा को सत्य करना चाहिए। आचार्य भगवंत के वचन को मन से स्वीकारकर क्रिया द्वारा उस को पूर्ण करना चाहिए ।।३३।।

अधुवं जीविअं नच्चा, सिद्धिमग्गं विआणीआ।
विणिअट्टिज्ज भोगेसु, आउं परिमिअमप्पणो ।।३४।।

सं.छा.: अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा, सिद्धिमार्गं विज्ञाय।
विनिवर्तेत भोगेभ्यः, आयुः परिमितमात्मनः ।।३४।।

भावार्थ : मुनि इस जीवन को अनित्य जानकर, स्वयं के आयुष्य को परिमित समझकर, ज्ञान-दर्शन चारित्र रूपी मोक्ष मार्ग को निरंतर सुखरूप मानकर विचारकर बंधन के हेतुभूत विषयों से पीछे रहे ।।३४।।

बलं थामं च पेहाए, सद्धा-मारुग्ग-मप्पणो।
खित्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए ।।३५।।
जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे ।।३६।।

सं.छा.: बलं स्थाम च प्रेक्ष्य, श्रद्धामारोग्यमात्मनः।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय, तथात्मानं नियुञ्जीत ।।३५।।
जरा यावन्न पीडयति, व्याधिर्यावन्न वर्धते।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते, तावद्धर्मं समाचरेत् ।।३६।।

भावार्थ : मुनि स्वयं की शक्ति, मानसिक बल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा और निरोगीता देखकर क्षेत्र काल जानकर उस अनुसार अपनी आत्मा को धर्म कार्य में प्रवर्तावे ।।३५।।

जब तक वृद्धावस्था पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इंद्रियाँ क्षीण न हो वहां तक शक्ति को बिना छूपाये धर्माचरण करें ।।३६।।

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाव-वड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हिअमप्पणो ।।३७।।

सं.छा.: क्रोधं मानं च मायां च, लोभं च पापवर्धनम्।

वमेच्चतुरो दोषान्, इच्छंश्च हितमात्मनः ।।३७।।

भावार्थ : क्रोध, मान, माया एवं लोभ ये चारों पापवर्द्धक भववर्द्धक हैं। मुनि अपना हित चाहनेवाला है। अतः इन चार दोषों को छोड़े। कषाय सेवन न करें ।।३७।।

कषाय से होनेवाला अलाभ :-

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो।
माया मित्ताणि नासेई, लोभो सव्व-विणासणो ।।३८।।

सं.छा.: क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशनः।
माया मित्राणि नाशयति, लोभः सर्वविनाशनः ।।३८।।

भावार्थ : क्रोध प्रीति नाशक, मान विनय नाशक, माया मित्रता नाशक एवं लोभ सर्व विनाशक है।।३८।।

कषाय निरोध हेतु मार्गदर्शन :-

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ।।३९।।

सं.छा.: उपशमेन हन्यात् क्रोधं, मानं मार्दवतो जयेत्।
मायां चार्जवभावेन, लोभं सन्तोषतो जयेत् ।।३९।।

भावार्थ : उपशम भाव से क्रोध का नाश करें, मृदुता/कोमलता/नम्रता से मान का नाश करें, ऋजुभाव/सरलता से माया का नाश करें एवं संतोष/निर्लोभता/निःस्पृहता से लोभ का विनाश करें ।।३९।।

कषायों के कार्य :-

कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ,
माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचन्ति मूलाइं पुणब्भवस्स ।।४०।।

सं.छा.: क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ, माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः, सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ।।४०।।

भावार्थ : अनिगृहीत/अंकुश में न रक्खे हुए वश नहीं किये हुए क्रोध, मान एवं प्रवर्द्धमान माया एवं लोभ ये चारों संपूर्ण या क्लिष्ट कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष के तथाविध कर्मरूपी जड़ को अशुभ भावरूपी जल से सिंचन करते हैं।।४०।।

विविध नियमों से साध्वाचार पालन :-

रायणिएसु विणयं पउंजे,
धुवसीलयं सययं न हावईज्जा।
कुम्मुव्व अल्लीण-पलीण-गुत्तो,

परक्कमिज्जा तव-संजमंमि ।।४१।।

सं.छा.: रत्नाधिकेषु विनयं प्रयुञ्जीत, ध्रुवशीलतां सततं न हापयेत्।
कूर्म इवालीनप्रलीनगुप्तः, पराक्रमेत तपः संयमे ।।४१।।

भावार्थ : मुनि, आचार्य, उपाध्याय, व्रतादि पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं का अभ्युत्थानादिक रूप से विनय करें, ध्रुवशीलता (अठारह हजार शीलांगरथ में हानि का न होना) में स्खलना न होने दे, कुर्म की तरह स्व अंगोपांगों को कायचेष्टा निरोध रूपी आलीन, गुप्तिपूर्वक तप एवं संयम में प्रवृत्त बनें ।।४१।।

निद्दं च न बहु मन्निज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
मिहो कहाहिं न रमे, सज्झायंमि रओ सया ।।४२।।

सं.छा.: निद्रां च न बहु मन्येत, सप्रहासं विवर्जयेत्।
मिथःकथासु न रमेत, स्वाध्याये रतः सदा ।।४२।।

भावार्थ : मुनि निद्रा को बहुमान न दे, किसी की हंसी-मजाक न करें या अट्टहास न करें, मैथुन की कथा में रमण न करें अथवा मुनि आपस में विकथा न करें, परंतु निरंतर स्वाध्याय में आसक्त रहे। स्वाध्याय ध्यान में रमण करें ।।४२।।

जोगं च समणधम्मंमि, जुंजे अणलसो धुवं।
जुत्तो अ समणधम्मंमि, अट्ठं लहइ अणुत्तरं ।।४३।।

सं.छा.: योगं च श्रमणधर्मे, युञ्जीतानलसो ध्रुवम्।
युक्तश्च श्रमणधर्मे, अर्थं लभतेऽनुत्तरम् ।।४३।।

भावार्थ : मुनि अप्रमत्तता पूर्वक स्वयं के तीनों योगों को श्रमण धर्म में नियोजित करें। क्योंकि दस प्रकार के श्रमणधर्म के पालन से मुनि अनुत्तर-अर्थ जो केवल ज्ञान स्वरूप है। उसे प्राप्त करता है।।४३।।

इहलोग-पारत्त-हिअं, जेणं गच्छई सुग्गई।
बहुस्सुअं पज्जुवासिज्जा, पुच्छिज्जत्थ विणिच्छयं ।।४४।।

सं.छा.: इहलोक-परत्रहितं, येन गच्छति सुगतिम्।
बहुश्रुतं पर्युपासीत, पृच्छेदर्थविनिश्चयम् ।।४४।।

भावार्थ : जिस श्रमण धर्म के पालन द्वारा इहलोक एवं परलोक का हित होता है। जिस से सुगति में जाया जाता है। उस धर्म के पालन में आवश्यक ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए बहुश्रुत, आगमज्ञ, गीतार्थ, आचार्य भगवंत की मुनि सेवा करें और अर्थ के विनिश्चय के लिए प्रश्न पूछें ।।४४।।

सद्गुरु के पास बैठने की विधि :-

हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए।

अल्लीण-गुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी ।।४५।।
न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य ऊरुं समासिज्ज, चिट्ठिज्जा गुरूणंतिए ।।४६।।

सं.छा.: हस्तं पादं च कायं च, प्रणिधाय जितेन्द्रियः ।
आलीनगुप्तो निषीदेत्, सकाशे च गुरोर्मुनिः ।।४५।।
न पक्षतो न पुरतो, नैव कृत्यानां पृष्ठतः ।
न चोरुं समाश्रित्य, तिष्ठेद् गुरूणामन्तिके ।।४६।।

भावार्थ : जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर एवं शरीर को संयमितकर (न अति दूर, न अति निकट, आलीन, मन वाणी से संयत गुप्त) आलीन गुप्त होकर उपयोग पूर्वक गुरु के पास बैठे ।।४५।।

गुरु के बराबर, आगे, पीछे न बैठे। गुरु के सामने जंघा पर जंघा चढाकर पैर पर पैर चढाकर, न बैठे ।।४६।। (गुरु के सामने साढ़े तीन हाथ दूर मर्यादानुसार बैठना)

भाषा के प्रयोग में साध्वाचार पालन :-

अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ।।४७।।

सं.छा.: अपृष्टो नैव भाषेत, भाषमाणस्य चान्तरा।
पृष्ठिमांसं न खादेच्च, मायामृषां (मृषावाचं) विवर्जयेत् ।।४७।।

भावार्थ : गुरु आदि के बिना पूछे न बोले, बीच में न बोले, गुरु आदि के पीछे उनके दोषों का कथन न करें, माया मृषावाद का त्याग करें ।।४७।।

अप्पत्तिअं जेण सिआ, आसु कुप्पिज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणिं ।।४८।।

सं.छा.: अप्रीतिकं येन स्याद्, आशु कुप्येच्च वा परः।
सर्वशस्तां न भाषेत, भाषामहितगामिनीम् ।।४८।।

भावार्थ : अप्रीति उत्पादक क्रोधोत्पादक स्व पर अहितकारी एवं द्वय लोक विरुद्ध भाषा न बोलें ।।४८।।

दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअं जिअं।
अयंपिर-मणुविग्गं, भासं निसिर अत्तवं ।।४९।।

सं.छा.: दृष्टां मितां असन्दिग्धां, प्रतिपूर्णां व्यक्तां जिताम्।
अजल्पनशीलामनुद्विग्नां, भाषां निसृजेदात्मवान् ।।४९।।

भावार्थ : आत्मार्थी मुनि दृष्टार्थ विषय, स्वयं ने देखे हुए पदार्थ संबंधी मित, शंका रहित, प्रतिपूर्ण, प्रकट, परिचित, वाचलता रहित (ऊँचे आवाज से नहीं) अनुद्विग्न,

उद्वेग न करावे, ऐसी भाषा मुनि बोले ।।४९।।

आयार-पन्नत्ति-धरं, दिट्ठिवाय-महिज्जगं।
वायविक्खलिअं नच्चा, न तं उवहसे मुणी ।।५०।।

सं.छा.: आचारप्रज्ञप्तिधरं, दृष्टिवादमधीयानम्।
वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा, न तमुपहसेन्मुनि ।।५०।।

भावार्थ : आचार प्रज्ञप्ति के धारक एवं दृष्टिवाद के अध्येता संभवतः प्रकृति, प्रत्यय, लिंग, काल, कारक, वर्ण में स्खलित हो गये हो, बोलने में प्रमादवश भूल हो गयी हो, तो उनका उपहास न करें ।।५०।।

निमित्त मंत्र तंत्र से रहित साध्वाचार पालन :-

नक्खत्तं सुमिणं जोगं, निमित्तं मंत-भेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे, भूआहिगरणं पयं ।।५१।।

सं.छा.: नक्षत्रं स्वप्नं योगं, निमित्तं मन्त्रभेषजम्।
गृहिणां तन्नाचक्षीत, भूताधिकरणं पदम्।।५१।।

भावार्थ : मुनि नक्षत्र, स्वप्न, वशीकरणादि योग, निमित्त मंत्र, औषध आदि गृहस्थों से न कहें। कारण है कि कहने से एकेन्द्रियादि जीवों की विराधना होती है। गृहस्थों की अप्रीति दूर करने हेतु कहें कि इन कार्यों में मुनियों को बोलने का अधिकार नहीं है।

मुनि कहां रहे?

अन्नट्ठं पगडं लयणं, भइज्ज सयणासणं।
उच्चारभूमि-संपन्नं, इत्थी-पसु-विवज्जिअं ।।५२।।

सं.छा.: अन्यार्थं प्रकृतं लयनं, भजेच्च शयनासनम्।
उच्चारभूमिसम्पन्नं, स्त्रीपशुविवर्जितम् ।।५२।।

भावार्थ : दूसरों के लिए बनी हुई, स्थंडिल मात्रा की भूमि सहित, स्त्री, पशु रहित स्थान में मुनि रहे एवं संस्तारक और पाट पाटला आदि दूसरों के लिए बने हुए प्रयोग में लें।।५२।।

मुनि परिचय किससे करें?

विवित्ता अ भवे सिज्जा, नारीणं न लवे कहं।
गिहि-संथवं न कुज्जा, कुज्जा साहूहिं संथवं ।।५३।।

सं.छा.: विविक्ता च भवेच्छय्या, नारीणां न लपेत्कथाम्।
गृहिसंस्तवं न कुर्यात्, कुर्यात्साधुभिः संस्तवम् ।।५३।।

भावार्थ : दूसरे मुनि या भाई-बहन से रहित एकान्त स्थान में अकेली स्त्रिओं को मुनि धर्म कथा न कहें, शंकादि दोषों का संभव है, उसी प्रकार गृहस्थियों का परिचय मुनि

न करें, मुनि मुनियों से परिचय करे ।।५३।।

स्त्री से दूर रहने हेतु उपदेश :-

जहा कुक्कुड-पोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थी-विग्गहओ भयं ।।५४।।
चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सु-अलंकिअं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ।।५५।।
हत्थ-पाय-पडिच्छिन्नं, कन्न-नास-विगप्पिअं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ।।५६।।
विभूसा इत्थि-संसग्गो, पणीअं रसभोअणं।
नरस्सत्त-गवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ।।५७।।
अंग-पच्चंग-संठाणं, चारुल्लविअ-पेहिअं।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामराग-विवड्ढणं ।।५८।।

सं.छा.: यथा कुक्कुटपोतस्य, नित्यं कुललतो भयम्।
एवं खु ब्रह्मचारिणः, स्त्रीविग्रहतो भयम् ।।५४।।
चित्रगतां न निरीक्षेत, नारीं वा स्वलङ्कृताम्।
भास्करमिव दृष्ट्वा, दृष्टिं प्रतिसमाहरेद् ।।५५।।
हस्तपाद्प्रतिच्छिन्नां, कर्णनासाविकृत्ताम्।
अपि वर्षशतिकां नारीं, ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ।।५६।।
विभूषा स्त्रीसंसर्गः, प्रणीतं रसभोजनम्।
नरस्यात्मगवेषिणो, विषं तालपुटं यथा ।।५७।।
अङ्गप्रत्यङ्गसंस्थानं, चारुलपितप्रेक्षितम्।
स्त्रीणां तन्न निरीक्षेत, कामरागविवर्द्धनम् ।।५८।।

भावार्थ : जैसे मुर्गी के बच्चे को नित्य बिल्ली से भय रहता है। वैसे स्त्री शरीर से ब्रह्मचारी मुनि को भय रहता है। अतः मुनि स्त्री परिचय से सर्वथा दूर रहे ।।५४।।

दिवार पर लगे स्त्री के चित्र को न देखे, सचेतन वस्त्राभूषण से अलंकृत या सादी वेशभूषा वाली स्त्री की ओर न देखे, सहज नजर जाने पर भी उसे मध्यान्ह के समय सूर्य के सामने गयी हुई दृष्टि स्वयं खिंच जाती है उसी प्रकार दृष्टि को खिंच ले ।।५५।।

('भिक्खरं-पिव' शब्द का प्रयोगकर शास्त्रकारों ने सामान्य से भी स्त्री के सामने देखने का मना किया है। तो धार्मिकता के नाम पर मुनि संस्था के कतिपय मुनि वीडियो, टी.वी. को प्रोत्साहन दे रहे हैं वह अपनाने योग्य है या नहीं यह स्वयं को सोचना है।)

ब्रह्मचारी मुनि हाथ, पैर से छिन्न, नाक, कान से छिन्न, ऐसी सौ वर्ष की आयुवाली वृद्धा नारी से भी परिचय न करे। युवा नारियों के परिचय का तो सर्वथा निषेध ही है ।।५६।। वर्तमान में उपधान आराधना के विषय में विचार करना आवश्यक है।

आत्मकल्याणार्थी मुनि के लिए **विभूषा, स्त्रीजन परिचय, प्रणीत रस भोजन,** तालपूट विष समान है। तालपूट विष शीघ्र मारक है। वैसे ये तीनों शीघ्रता से भावप्राण नाशक है। ब्रह्मचर्य घातक है ।।५७।।

आत्मार्थी मुनि स्त्री के मस्त्कादि अंग नयनादि प्रत्यंग की आकृति को, सुंदर शरीर को, उसके मनोहर नयनों को न देखे। क्योंकि वे विषयाभिलाष की वृद्धिकारक है ।।५८।।

पुद्गल परिणाम का चिंतन :-

विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पुग्गलाण य ।।५९।।

सं.छा.: विषयेषु मनोज्ञेषु, प्रेमं नाभिनिवेशयेत् ।
अनित्यं तेषां विज्ञाय, परिणामं पुद्गलानां च ।।५९।।

भावार्थ : जिन वचनानुसार शब्दादिक परिणाम रूप में परिणत पुद्गल के परिणाम को अनित्य जानकर मनोज्ञ विषयों में राग न करें एवं अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में द्वेष न करें। क्योंकि सुंदर पुद्गल कारण की प्राप्ति से असुंदर, असुंदर पुद्गल कारण की प्राप्ति से सुंदर/मनोहर हो जाते हैं। अतः पुद्गल परिणामों में राग द्वेष न करें ।।५९।।

पुग्गलाणं परिणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीअ-तण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा ।।६०।।

सं.छा.: पुद्गलानां परिणामं, तेषां ज्ञात्वा यथातथा ।
विनीततृष्णो विहरेत्, शीतीभूतेन चात्मना ।।६०।।

भावार्थ : आत्मार्थी मुनि पुद्गलों की शुभाशुभ परिणमन क्रिया को जानकर, उसके उपभोग में तृष्णारहित होकर एवं क्रोधादि अग्नि के अभाव से शीतल होकर विचरें।।६०।।

प्रव्रज्या के समय के भावों को अखंडित रखना :-

जाइ सद्धाई निक्खंतो, परिआयट्ठाण-मुत्तमं।
तमेव अणुपालिज्जा, गुणे आयरिअ-संमए ।।६१।।

सं.छा.: यया श्रद्धया निष्क्रान्तः, पर्यायस्थानमुत्तमम्।
तामेवानुपालयेद्, गुणेष्वाचार्यसम्मतेषु ।।६१।।

भावार्थ : उत्तम चारित्र ग्रहण करते समय जो आत्मश्रद्धा, जो भाव थे, उसी श्रद्धा को पूर्ववत् अखंडित रखकर चारित्र पालन करें और आचार्य महाराज, तीर्थंकर भगवंत आदि

सम्मत्त मूलोत्तर गुणों को अप्रतिपाति श्रद्धापूर्वक चढ़ते परिणाम से पालन करें ।।६१।।

तवं चिमं संजम-जोगयं च, सज्झाय-जोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाइ समत्त-माउहे, अलमप्पणो होइ अलं परेसिं ।।६२।।

सं.छा.: तपश्चेदं संयमयोगं च, स्वाध्याययोगं च सदाऽधिष्ठाता।
शूर इव सेनया समाप्तायुधः, अलमात्मनो भवत्यलं परेषाम् ।।६२।।

भावार्थ : द्वादश प्रकार के तप, षट्काय रक्षा रूपी संयम, योग, स्वाध्याय, वाचनादि रूपी संयम व्यापार में निरंतर स्थित मुनि, स्वयं की और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ है जिस प्रकार शत्रुसेना से घिर जाने पर आयुधों से, शस्त्रों से सुसज्जित वीर ।।६२।।

तप, संयम एवं स्वाध्याय रूपी शस्त्र से युक्त मुनि, स्व, पर को मोहरूपी सेना से मुक्त करवाने में समर्थ है।

कर्म निर्जरा का मार्ग :-

सज्झाय-सज्झाण-रयस्स ताइणो, अपाव-भावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झइ जं सि मलं पुरेकडं, समीरिअं रुप्पमलं व जोइणा ।।६३।।

सं.छा.: स्वाध्यायसद्ध्यानरतस्य तायिनो, अपापभावस्य तपसि रतस्य।
विशुद्ध्यते यदस्य पुराकृतं, समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा ।।६३।।

भावार्थ : स्वाध्याय रूपी शुभ ध्यान में आसक्त, स्व पर रक्षक, शुद्ध परिणाम युक्त, तपश्चर्या में रक्त, मुनि पूर्व के किए हुए पापों से शुद्ध होता है जैसे अग्नि से तपाने पर चांदी का मेल शुद्ध होता है। अर्थात् पूर्व के कर्मों की निर्जरा होती है।।६३।।

से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए, सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे ।
विरायई कम्म-घणंमि अवगए,
कसिणब्भ-पुडावगमे व चंदिमे ।।६४।। त्ति बेमि ।।

सं.छा.: स तादृशो दुःखसहो जितेन्द्रियः, श्रुतेन युक्तोऽममोऽकिञ्चनः।
विराजते कर्मघनेऽपगते, कृत्स्नाभ्रपुटावगम इव चन्द्रमाः।।६४।।

।। इति ब्रवीमि ।।

भावार्थ : पूर्वोक्त गुणयुक्त और दुःख को सहन करनेवाला अर्थात् परिषह सहन कर्ता, जितेन्द्रिय, श्रुतज्ञान युक्त, ममता रहित, सुवर्णादि परिग्रह रहित साधु, जिस प्रकार सभी बादलों से रहित चंद्रमा शोभायमान होता है वैसे जिन साधुओं के आचार प्रणिधि अध्ययन कथित आचरणानुसार जीवन व्यतीत करने से कर्म समूह रूपी समस्त बादल चले गये हैं वे साधु केवलज्ञान रूपी प्रकाश ज्योति से शोभायमान है।

ऐसा श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी मनक से कहते हैं कि तीर्थंकर गणधरादि के कथनानुसार मैं कहता हूँ।

९ विनयसमाधि नामकं नवमं अध्ययनम्

संबंध - आठवें अध्ययन में आचार साध्वाचार का वर्णन किया, प्ररूपणा की। आचार पालन में विनय गुण का मुख्य, प्रधान स्थान है। विनयहीन आत्मा का आचार पालन, बिना जड़ के वृक्ष जैसा है। आगमों में मूल शब्द का प्रयोग विनयधर्म के साथ ही हुआ है। 'विणय मूलो धम्मो' धर्म का मूल विनय है। धर्म के मूल स्वरूप विनय की व्याख्या नवमें अध्ययन में दर्शायी है। विनयी आत्मा ही आचार पालन के द्वारा जगत् विश्व में पूजनीय होता है। अतः श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी म.सा. ने नौवे अध्ययन में विनय का स्वरूप दर्शाया है।

विनयसमाधि नवम अध्ययन प्रथम उद्देशः के उपयोगी शब्दार्थ - (अभूईभावो) अज्ञानभाव (कीअस्स) बांस के फल ।।१।। (विइत्ता) जानकर (डहरे) छोटी आयुवाले (पडिवज्जमाणा) स्वीकार करके ।।२।। (पगइइ) स्वभाव से (सिहिरिव) अग्नि जैसा (भास) भस्म ।।३।। (निअच्छई) प्राप्त करता है (जाइपहं) जाति पंथ ।।४।। (आसीविसो) दाढ में विषवाला सर्प (सुरुट्ठो) विशेष क्रोधित ।।५।। (जलिअं) जलती (अवक्कमिज्जा) खड़ा रहता है या लांघता है (कोवइज्जा) क्रोधित करना (एसोवमा) यह उपमा ।।६।। (डहेज्जा) जलाना (हालहलं) हलाहल नामक विष ।।७।। (रमेज्जा) रहना, वर्तना (पसायाभिमुहो) प्रसन्न करवाने में तत्पर ।।१०।। (सत्तिअग्गे) शक्ति की धार पर ।।८।। (जहाहिअग्गी) जैसे होम करनेवाला ब्राह्मण (नाणाहुइ) अनेक प्रकार की आहुति से (उवचिट्ठएज्जा) सेवे, (मंतपयाभिसित्तं) मंत्र पदों से अभिषिक्त (अणंत नाणोवगओवि) अनंत ज्ञान युक्त भी ।।११।। (जस्सन्तिए) जिनके पास ।।१२।। (निसंते) रात्रि का अंतिम समय (तवणच्चिमाली) प्रकाशमान सूर्य (पभासाई) प्रकाश करता है, (विरायइ) शोभित है ।।१३।। (कोमुई) कार्तिक पूर्णिमा के रात का चंद्र प्रकाश (परिवुडप्पा) परिवृत्त (खे) आकाश में (अब्भमुक्के) बादलों से मुक्त ।।१५।। (महागरा) महान् खान जैसे (महेसि) मोक्ष की बड़ी इच्छावाले (संपाविउकामे) मोक्ष प्राप्ति की इच्छा युक्त ।।१६।। (आराहइत्ताण) आराधन कर ।।१७।।

द्वितीय उद्देशः के उपयोगी शब्दार्थ - (समुवेन्ति) सम्यक् उत्पन्न होता है (विरुहन्ति) विशेषकर उत्पन्न होता है ।।१।। (सिग्घं) प्रशंसा योग्य (चण्डे) क्रोधी (मिए) अजाण (थद्धे) स्तब्ध, अहंकारी (नियडी) कपटी मायावी (सढे) सठ (वुज्झइ) प्रवाहित होता है (सोयगयं) प्रवाहगत ।।३।। (उवाएणं) उपाय से (चोइओ) प्रेरित (इज्जन्ति) आती ऐसी (पडिसेहए) लौटा दे, निषेध करे ।।४।। (उववज्झा) राजा आदि लोगों के (एहन्ता) भोगते ऐसे ।।५।। (छाया) चाबुक के मार से व्रण युक्त देहवाला ।।६।। (परिजुण्णा) दुर्बल बना हुआ (कलुणा) दया उत्पन्न हो वैसा (विवन्नछन्दा) पराधीन रहे हुए (असब्भ) असभ्य (खुप्पिवासा परिगया) क्षुधा प्यास से पीड़ित ।।८।। (गुज्झगा) भवनपति (आभिओगं)

दासत्व (उवट्ठिआ) पाये हुए ।।१०।। (पायवा) वृक्ष (जलसित्ता) जल से सिंचित ।।१२।। (नेउणियाणि) निपुणता ।।१३।। (ललिइंदिया) गर्भश्रीमंत ।।१४।। (निद्देसवत्तिणो) आज्ञाधिन ।।१५।। (सुयग्गाहि) श्रुतज्ञानग्राही (अणंत हिय कामए) मोक्षकामी (नाइवत्तए) इल्लंघन न करे ।।१६।। (उवहिणामवि) उपधि पर ।।१८।। (दुग्गओ) अड़ियल वृषभ (पओएणं) चाबुक से (वुत्तोवुत्तो) बार-बार कहने से ।।१९।। (पडिस्सुणे) उत्तर देना (छंदोवयारं) गुरु इच्छा को (संपडिवायए) सम्प्रतिपादन करना, पूर्ण करना ।।२०।। (विवत्ती) विनाश (अभिगच्छइ) पाता है ।।२१।। (साहस) अकृत्य करने में तत्पर (अकोविए) न जाननेवाला (हीण पेसणे) गुरु आज्ञा को न माननेवाला ।।२२।। (ओहं) संसार समुद्र को ।।२३।।

तृतीय उद्देशः - (सुस्समाणो) सेवा करते हुए (आलोइयं) नजर, दृष्टि (इंगिवयं) इंगित (बाहर के आकार का परिवर्तन) (छन्दं) आचार्य की इच्छानुसार ।।१।। (परिगिज्झ) ग्रहण करे (जहोवइट्ठं) जैसा कहा वैसा ।।२।। (नियत्तणे) अधिक गुणी को नमस्कार करता हुआ (ओवायवं) वंदन करनेवाला (वक्ककरो) आज्ञा माननेवाला ।।३।। (अन्नायउंछं) अज्ञात घरों से (जवणट्ठया) निर्वाह अर्थे (समुयाणं) योग्य आहार (परिदेवएज्जा) निंदा करना ।।४।। (पाहन्न) प्रधान ।।५।। (सक्का) शक्य (सहेउं) सहने हेतु (आसाइ) आशा से (अओमया) लोहमय (उच्छहया) उत्साह से (वइमए) कठोर, परुषवचन (कण्णसरे) कान में प्रवेश करते ऐसे ।।६।। (सुउद्धरा) सुखपूर्वक निकाले जा सके ।।७।। (समावयन्ता) सामने आते हुए (जणन्ति) उत्पन्न करते हैं (किच्चा) जानकर (परमग्गसूरे) महाशूरवीर ।।८।। (परम्मुहस्स) पीछे (पडिणीयं) दुःखद (ओहारिणिं) निश्चयरूप ।।९।। (अप्फुहए) इन्द्रजालादि क्रिया से दूर (भावियप्पा) स्व प्रशंसक ।।१०।। (अगुणेहिंऽसाहू) अगुणों से असाधु (अप्पगं) आत्मा को ।।११।। (हीलए) एक बार निंदा करे (खिंसएज्जा) बार-बार निंदा करे ।।१२।। (माणिया) सन्मानित (कन्नं व) कन्या के जैसे (उत्तेण-जत्तेण) यत्न से (माणरिहे) मान देने योग्य ।।१३।। (चरे) आदरे, पाले, स्वीकार करे ।।१४।। (पडियरिय) सेवाकर (धुणिय) खपाकर (अभिगमकुसले) मेहमान मुनियों की वैयावच्च में कुशल (भासुरं) देदीप्यमान (वइ) जाता है ।।१५।।

चतुर्थ उद्देशः -(अभिरामयन्ति) जोड़ता है ।।२।। (अणुसासिज्जन्तो) अनुशासित (वेयमाराहइ) श्रुत ज्ञान की आराधना करे (अत्तसम्पग्गहिए) आत्म प्रशंसक (एत्थ) यह ।।३।। (पेहेइ) प्रार्थना करे (आययट्ठिए) मोक्षार्थि साधु ।।४।। (अज्झाइयव्वं) पठन योग्य ।।५।। (आरहन्तेहिं हेउहिं) अरिहन्त कथित हेतु (भाव सन्धए) आत्मा को मोक्ष के पास ले जानेवाला ।।६।। (अभिगम) जानकर (विउलहिअं) महान् हितकारी (इत्थंत्थं) नरकादि व्यवहार के बीजरूप वर्ण संस्थानादि ।।७।।

अविनयी को फल प्राप्ति :-

थंभा व कोहा व म(मा)यप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूईभावो, फलं च कीअस्स वहाय होई ।।१।।

सं.छा.: स्तम्भाद्वा क्रोधाद्वा मायाप्रमादाद्, गुरोःसकाशे विनयं न शिक्षते।
स एव तु तस्याभूतिभावः, फलमिव कीचकस्य वधाय भवति ।।१।।

भावार्थ : जो मुनि गर्व, क्रोध, माया एवं प्रमाद के कारण सद्गुरु भगवंत से विनय धर्म की शिक्षा ग्रहण नहीं करता, वही (विनय की अशिक्षा) उसके लिए विनाश का कारण बनती है। जैसे कीचक को फल आने पर कीचक (बांस) का नाश होता है। अविनय रूपी फल प्राप्ति से उसके भाव प्राणों का नाश हो जाता है ।।१।।

जे आवि मंदित्ति, गुरुं विइत्ता, डहरे इमे अप्पसुअत्ति नच्चा।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा, करंति आसायण ते गुरूणं ।।२।।

सं.छा.: ये चापि मन्द इति गुरुं विदित्वा, डहरोऽयमल्पश्रुत इति ज्ञात्वा ।
हीलयन्ति मिथ्यात्वं प्रतिपद्यमानाः, कुर्वन्त्याशातनां ते गुरूणाम् ।।२।।

भावार्थ : जो मुनि, सद्गुरु को ये अल्पप्रज्ञ (मंदबुद्धि) वाले हैं, अल्पवयवाले हैं, अल्पश्रुतधर हैं, ऐसा मानकर उसकी हीलना/तिरस्कार करता है, वह मुनि मिथ्यात्व को प्राप्त करता हुआ, गुरु भगवंतों की आशातना करनेवाला होता है।।२।।

अल्पज्ञ सद्गुरु का विनय न करने का फल :-

पगईइ मंदा वि भवंति एगे, डहरा वि अ जे सुअबुद्धोववेआ।
आयारमंता गुणसुट्ठिअप्पा, जे हीलिआ सिहिरिव भास कुज्जा ।।३।।

सं.छा.: प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्त्येके, डहरा अपि च ये श्रुतबुद्ध्योपपेताः।
आचारवन्तो गुणसुस्थितात्मानो, ये हीलिताः शिखीव भस्मसात्कुर्युः।।३।।

भावार्थ : वयोवृद्ध आचार्य भगवंत भी कभी कोई प्रकृति से अल्पप्रज्ञ होते हैं एवं कोई अल्पवय युक्त होने पर भी श्रुत एवं बुद्धि से प्रज्ञ होते हैं।

आचारवंत एवं गुण में सुस्थित आत्मा आचार्य भगवंत जो आयु में अल्प हो, श्रुत में अल्प हो, तो भी उनकी अवज्ञा करनेवाले आत्मा के गुणों के समुह का नाश हो जाता है। जैसे अग्नि में पदार्थ भस्म होता है। अर्थात् सद्गुरु की आशातना करनेवाले के गुण समूह का नाश अग्नि में पदार्थ के नाश सम हो जाता है।।३।।

दृष्टांत पूर्वक अविनय का फल :-

जे आवि नागं डहरं ति नच्चा, आसायए से अहिआय होइ।
एवायरिअं पि हु हीलयंतो, निअच्छई जाइपहं खु मंदो ।।४।।

सं.छा.: यश्चापि नागं डहर इति ज्ञात्वा, आशातयति सोऽहिताय भवति।
एवमाचार्यमपि हीलयन्, निर्गच्छति जातिपन्थानं तु मन्दः ।।४।।

भावार्थ : जैसे कोई मूर्ख अज्ञ आत्मा सर्प को छोटा समझकर उसकी कदर्थना करता है, तो वह सर्प उसके द्रव्य प्राण के नाश का कारण बनता है, वैसे शास्त्रोक्त किसी कारण से अल्पवयस्क, अल्प प्रज्ञ को आचार्य पद दिया गया हो एवं उनकी हिलना करनेवाला आत्मा 'जाइ पहं' अर्थात् दो इन्द्रियादि गतियों में अधिक काल के जन्म मरण के मार्ग को प्राप्त करता है। अधिक काल तक संसार में परिभ्रमण रूपी अहित को प्राप्त करता है।।४।।

आसीविसो या वि परं सुरुट्ठो, किं जीवनासाउ परं न कुज्जा।
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना, अबोहि-आसायण नत्थि मुक्खो।।५।।

सं.छा.: आशीविषश्चापि परं सुरुष्टः, किं जीवितनाशात्परं न कुर्यात्?।
आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः, अबोध्याशातनया नास्ति मोक्षः ।।५।।

भावार्थ : आशीविष सर्प अत्यन्त क्रोधित बनने पर जीवितव्य/द्रव्य प्राणों के नाश से अधिक किसी भी प्रकार का नुकसान नहीं कर सकता। पर सद्गुरु आचार्य भगवंत, उनकी हिलना से, अप्रसन्न होने से शिष्य के लिए वे मिथ्यात्व के कारण रूप होते हैं। क्योंकि सद्गुरु आचार्य की अवहेलना-आशातना करने से मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है। इससे अबोधि एवं आशातना करनेवालों का मोक्ष नहीं होता।।५।।

जो पावगं जलिअं-मवक्कमिज्जा, आसीविसं वा वि हु कोवइज्जा।
जो वा विसं खायइ जीविअट्ठी, एसोवमासायणया गुरूणं ।।६।।

सं.छा.: यः पावकं ज्वलितमवक्रामेद्, आशीविषं वाऽपि हि कोपयेत्।
यो वा विषं खादति जीवितार्थी, एषोपमाशातनया गुरूणाम् ।।६।।

भावार्थ : जिस प्रकार कोई व्यक्ति जीने के लिए जल रही अग्नि में खड़ा रहता है या आशीविष सर्प को क्रोधित करता है या कोई विष का आहार करता है तो वह जीवित नहीं रह सकता, वैसे ही। ये उपमाएँ धर्माचरण हेतु गुरु की अवहेलना करनेवाले के लिए समान रूप से हैं।

अग्नि, सर्प एवं विष जीवितव्य के स्थान पर मरण के कारणभूत हैं। वैसे ही सद्गुरु की आशातना पूर्वक की गयी मोक्षसाधना संसार वृद्धि का कारण है ।।६।।

सिया हु से पावय नो डहेज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे।
सिया विसं हालहलं न मारे, न यावि मोक्खो गुरु-हीलणाए ।।७।।

सं.छा.: स्यात्खल्वसौ पावको नो दहेत्, आशीविषो वा कुपितो न भक्षयेत्।
स्याद्विषं हालाहलं न मारयेत्, न चापि मोक्षो गुरुहीलनातः ।।७।।

भावार्थ : संभव है कि अग्नि न जलावे, कुपित आशीविष दंश न दे, हलाहल विष न मारे पर सद्गुरु भगवंत की अवहेलना से मोक्ष कभी नहीं होगा ।।७।।

जो पव्वयं सिरसा भेत्तु-मिच्छे, सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा।
जो वा दए सत्ति-अग्गे पहारं, एसोवमासायणया गुरूणं ।।८।।

सं.छा.: यः पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत्, सुप्तं वा सिंहं प्रतिबोधयेत्।
यो वा ददाति शक्त्यग्रे प्रहारं, एषोपमाऽऽशातनया गुरूणाम् ।।८।।

भावार्थ : कोई व्यक्ति मस्तक से पर्वत छेदन करना चाहे, या सुप्त सिंह को जगाये, या शक्ति नामक शस्त्र पर हाथ से प्रहार करता है। ये तीनों जैसे अलाभकारी हैं वैसे सद्गुरु की आशातना अलाभकारी है ।।८।।

सिया हु सीसेण गिरिं पि भिन्दे, सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे।
सिया न भिन्दिज्ज व सत्ति-अग्गं, न या वि मोक्खो गुरु-हीलणाए।।९।।

सं.छा.: स्याद्वा शीर्षेण गिरिमपि भिन्द्यात्, स्याद्वा सिंहः कुपितो न भक्षयेत्।
स्यान्न भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रं, न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ।।९।।

भावार्थ : संभव है कि प्रभावक शक्ति के कारण मस्तक से पर्वत का भेदन हो जाय, मंत्रादि के सामर्थ्य से कुपित सिंह भक्षण न करे, शक्ति नामक शस्त्र हाथ पर लेश भी घाव न करे, पर गुरु की आशातना से मोक्ष कभी नहीं होगा ।।९।।

सद्गुरु की प्रसन्नता / कृपा आवश्यक :-

आयरिय-पाया पुण अप्पसन्ना, अबोहि-आसायण नत्थि मुक्खो।
तम्हा अणाबाह-सुहाभिकंखी, गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ।।१०।।

सं.छा.: आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः, अबोध्याशातनया नास्ति मोक्षः।
तस्मादनाबाधसुखाभिकाङ्क्षी, गुरुप्रसादाभिमुखो रमेत ।।१०।।

भावार्थ : सद्गुरु की अप्रसन्नता से मिथ्यात्व की प्राप्ति, सद्गुरु की आशातना से मोक्ष का अभाव है अगर ऐसा है तो अनाबाध, परिपूर्ण, शाश्वत सुखाभिलाषी मुनियों को जिस प्रकार सद्गुरु प्रसन्न रहे सद्गुरु की कृपा प्राप्त हो उस अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए ।।१०।।

जहाहि-अग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुइ-मन्त-पया-भिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा, अणंत-नाणोवगओ वि संतो ।।११।।

सं.छा.: यथाऽऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्यति, नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम्।
एवमाचार्यमुपतिष्ठेत्, अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ।।११।।

भावार्थ : जिस प्रकार आहिताग्नि ब्राह्मण/होम हवन करनेवाला पंडित्र मंत्रपदों से संस्कारित अग्नि को नमस्कार करता है। उसी प्रकार शिष्य अनंत ज्ञानवान होते हुए भी

सद्गुरु आचार्य भगवंत की विनयपूर्वक सेवा करें। ज्ञानी शिष्य के लिए यह विधान है, तो सामान्य शिष्य के लिए तो कहना ही क्या? ।।११।।

विनय विधि :-

जस्सन्तिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ, काय-ग्गिरा भो मणसा य निच्चं ।।१२।।

सं.छा.: यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत, तस्यान्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत।
सत्कारयेच्छिरसा प्राञ्जलिः सन्, कायेन गिरा भो मनसा च नित्यम् ।।१२।।

भावार्थ : जिस सद्गुरु के पास धर्म पदों का शिक्षण ले रहे हैं, उनके समीप विनय धर्म का पालन करें। उनका सत्कार करना, पंचांग प्रणिपात, हाथ जोड़कर मत्थएण वंदामि कहना, मन, वचन, काया से नित्य उनका सत्कार सन्मान करना ।।१२।।

लज्जा-दया-संजम-बंभचेरं, कल्लाण-भागिस्स विसोहि-ठाणं।
जे मे गुरु सययं-मणुसासयन्ति, तेऽहं गुरुं सययं पूययामि।।१३।।

सं.छा.: लज्जा दया संयमो ब्रह्मचर्यं, कल्याणभागिनो विशोधिस्थानम्।
ये मां गुरवः सततमनुशासयन्ति, तानहं गुरून् सततं पूजयामि ।।१३।।

भावार्थ : लज्जा, दया, संयम और ब्रह्मचर्य ये चारों मोक्षाभिलाषी मुनि के लिए विशोधिस्थान है, अतः जो सद्गुरु मुझे इन चारों के लिए सतत् हित शिक्षा देते हैं मैं उन सद्गुरु भगवंत की नित्य पूजा करता हूँ। इस प्रकार शिष्यों को सतत विचार, चिंतन करना चाहिए। उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना यही सद्गुरु की वास्तविक पूजा है ।।१३।।

आचार्य भगवंत की गुण गर्भित स्तुति :-

जहा निसंते तवणच्चिमाली, पभासई केवल-भारहं तु।
एवायरिओ सुय-सील-बुद्धिए, विरायइ सुरमज्झे व इंदो ।।१४।।

सं.छा.: यथा निशान्ते तपन्नर्चिर्माली, प्रभासयति केवल-भारतं तु।
एवमाचार्यः श्रुतशीलबुद्ध्या, विराजते सुरमध्य इवेन्द्रः ।।१४।।

भावार्थ : जिस प्रकार रात्रि के व्यतीत होने पर दिन में प्रदिप्त होता हुआ सूर्य संपूर्ण भरत क्षेत्र को प्रकाशित करता है, वैसे शुद्ध श्रुत, शील, बुद्धि संपन्न सद्गुरु आचार्य भगवंत जीवादि पदार्थों के संपूर्ण स्वरूप को प्रकाशित करते हैं और जैसे देवताओं के समूह में इन्द्र शोभायमान है, वैसे सद्गुरु आचार्य भगवंत मुनि मंडल में शोभायमान हैं ।।१४।।

जहा ससी कोमुई-जोग-जुत्तो, नक्खत्त-तारागण-परिवुडप्पा।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के, एवं गणी सोहई भिक्खुमज्झे ।।१५।।

सं.छा.: यथा शशी कौमुदीयोगयुक्तः, नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा।

खे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते, एवं गणी शोभते भिक्षुमध्ये ।।१५।।

भावार्थ : जिस प्रकार कार्तिक पुर्णिमा के दिन बादलों से रहित निर्मल आकाश में नक्षत्र और तारागण से परिवृत्त चंद्रमा शोभायमान है। वैसे साधु समुदाय में गणि सद्गुरु आचार्य भगवंत शोभायमान हैं ।।१५।।

महागरा आयरिया महेसी, समाहि-जोगे सुय-सील-बुद्धिए।
सम्पाविउ-कामे अणुत्तराइं, आराहए तोसइ धम्म-कामी ।।१६।।

सं.छा.: महाकरा आचार्या महर्षयः, समाधियोगश्रुतशीलबुद्धिभिः।
सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि, आराधयेत्तोषयेद्धर्मकामी ।।१६।।

भावार्थ : अनुत्तर ज्ञानादि भाव रत्नों की खान समान समाधि, योग, श्रुत, शील, एवं बुद्धि के महान धनी, महर्षि आचार्य भगवंत के पास से सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि प्राप्ति के लिए सुशिष्यों को विनय करने के द्वारा आराधना करनी। एक बार ही नहीं, कर्म निर्जरार्थे बार-बार विनय करने के द्वारा आचार्य भगवंत को प्रसन्न करना ।।१६।।

उपसंहार :

सुच्चाण मेहावि-सुभासियाइं, सुस्सूसए आयरिअमप्पमत्तो।
आराहईत्ताण गुणे अणेगे, से पावइ सिद्धिमणुत्तरं।।१७।।त्ति बेमि।।

सं.छा.: श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि, शुश्रूषयेदाचार्यानप्रमत्तः।
आराध्य गुणाननेकान्, स प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तराम् ।।१७।।

।। इति ब्रवीमि ।।

भावार्थ : इन सुभाषितों को श्रवणकर मेधावी मुनि, सद्गुरु आचार्य भगवंत की सतत, निरंतर अप्रमत्त भाव से सेवा करें। इस प्रकार पूर्वोक्त गुण युक्त सद्गुरु आचार्यादि की शुश्रूषा करनेवाला मुनि अनेक ज्ञानादि गुणों की आराधनाकर क्रमशः मोक्ष प्राप्त करता है।।१७।।

श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी कहते हैं कि तीर्थंकरादि के कहे अनुसार मैं कहता हूँ।

❋ ❋ ❋

द्वितीयोद्देशकः

मूल की महत्ता :-

मूलाउ खन्धप्पभवो दुमस्स, खन्धाउ पच्छा समुवेन्ति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ से पुप्फं च फलं रसो य ।।१।।

सं.छा.: मूलात् स्कन्धप्रभवो दुमस्य, स्कन्धात्पश्चात्समुत्पद्यन्ते शाखाः।
शाखाभ्यः प्रशाखा विरोहन्ति पत्राणि, ततस्तस्य पुष्पं च फलं रसश्च ।।१।।

भावार्थ : वृक्ष के मूल से स्कंध उत्पन्न होता है, स्कंध के बाद शाखा की उत्पत्ति, शाखा से छोटी शाखा प्रशाखाएँ निकलती हैं फिर पत्र, पुष्प, फल एवं रस की उत्पत्ति होती है ।।१।।

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छई ।।२।।

सं.छा.: एवं धर्मस्य विनयो, मूलं परमस्तस्य मोक्षः।
येन कीर्तिश्रुतं श्लाघ्यं, निःशेषं चाधिगच्छति ।।२।।

भावार्थ : इस प्रकार धर्म रूपी कल्पवृक्ष का मूल विनय है। वृक्ष सदृश्य उत्तरोत्तर सुख सामग्री, ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति के साथ मोक्ष प्राप्ति, यह उत्तम फल के रस रूपी जानना। अतः विनयाचार का पालन करना सभी के लिए अनिवार्य है। विनय से मुनि कीर्ति, श्रुतज्ञान एवं प्रशंसा योग्य सभी पदार्थों को प्राप्त करता है।।२।।

अविनीत की दुर्दशा :-

जे य चण्डे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झई से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा ।।३।।

सं.छा.: यश्च चण्डो मृगः स्तब्धो, दुर्वादी निकृतिमान् शठः।
उह्यतेऽसावविनीतात्मा, काष्ठं स्रोतोगतं यथा ।।३।।

भावार्थ : तीव्र रोष युक्त, अज्ञ, हितोपदेश से रुष्ट होनेवाला, अहंकारी, अप्रियभाषी, मायावी, शठ, (संयम योगों में शिथिल) इत्यादि दोषों के कारण जो मुनि सद्गुरु आदि का विनय नहीं करता, वह अविनीत आत्मा जिस प्रकार नदी आदि के प्रवाह में गिरा हुआ काष्ठ बहता रहता है वैसे संसार प्रवाह में वह प्रवाहित होता है। अर्थात् अविनीतात्मा चारों गति में परिभ्रमण करता रहता है।।३।।

विणयं पि जो उवाएणं, चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमिज्जंति, दंडेण पडिसेहए ।।४।।

सं.छा.: विनयमपि य उपायेन, चोदितः कुप्यति नरः।
दिव्यां स श्रियमागच्छन्तीं, दण्डेन प्रतिषेधयति ।।४।।

भावार्थ : विनय धर्म के परिपालन हेतु सद्गुरु के द्वारा प्रयत्नपूर्वक मधुर वचनों से प्रेरित करने पर उन पर कुपित आत्मा, अपने घर में आनेवाली ज्ञान रूपी दिव्य लक्ष्मी को दंड प्रहार से लौटा देता है। उसे धक्का देकर घर में आने से रोकता है। घर से निकाल देता है ।।४।।

तहेव अविणीअप्पा, उववज्झा हया गया।
दीसन्ति दुहमेहंता, आभिओग-मुवट्ठिया ।।५।।

सं.छा.: तथैवाविनीतात्मानः, औपवाह्या हया गजाः।

दृश्यन्ते दुःखमेधयन्तः, आभियोग्यमुपस्थिताः ।।५।।

भावार्थ : राजा, सेनापति, प्रधान आदि की सवारी के काम में आनेवाले हाथी घोड़े जो-जो अविनीत होते हैं। अड़ीयल होते हैं वे भार वहन करने के द्वारा क्लेश रूपी दुःख को प्राप्त करते हैं।।५।। (उववज्झाःऔपवाह्य सवारी के काम में आना)

सुविनीत को सुफल की प्राप्ति :-

तहेव सुविणीअप्पा, उववज्झा हया गया।

दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ।।६।।

सं.छा.: तथैव सुविनीतात्मानः, औपवाह्या हया गजाः।

दृश्यन्ते सुखमेधमानाः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ।।६।।

भावार्थ : राजा आदि की सवारी के काम में आनेवाले जो हाथी, घोडे सुविनीत होते हैं। वे आभूषण, रहने का स्थान, उत्तम आहारादि को प्राप्तकर स्वयं के सद्गुणों से यश, प्रख्याति को प्राप्तकर सुखों का अनुभव करते हैं ।।६।।

तिर्यंच विनय गुण से सुखानुभव करता है तो मुनि महान स्थान को पाया हुआ है वह विनय गुण के द्वारा महान सुख मोक्ष सुख को प्राप्त करें इसमें क्या कहना?

अविनीत की दुर्दशा :-

तहेव अविणीअप्पा, लोगंमि नर-नारिओ।

दीसंति दुहमेहंता, छाया विगलिंतेंदिया ।।७।।

सं.छा.: तथैवाविनीतात्मानो, लोके नरनार्यः।

दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः, छारा (ताः) विकलेन्द्रिया ।।७।।

भावार्थ : पशुओं के समान जो नर-नारी अविनीत हैं, वे जगत में अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हुए, चाबुक आदि के प्रहार से व्रण, घावयुक्त देहवाले एवं परस्त्री आदि दोषों के फलरूप में नाक आदि इंद्रियों से विकल देखने में आते हैं ।।७।।

दण्ड-सत्थ-परिजुण्णा, असब्भ-वयणेहि य।

कलुणा विवन्न-छंदा, खुप्पिवासा-परिगया ।।८।।

सं.छा.: दण्डशस्त्रपरिजीर्णाः, असभ्यवचनैश्च।

करुणाव्यापन्नच्छन्दसः, क्षुत्पिपासापरिगताः ।।८।।

भावार्थ : अविनीत नर-नारी दंड, शस्त्र, महाकठोर वचनों से दुर्बल हो जाने से करुणा पात्र, दीन, पराधीन, और क्षुधा प्यास से पीड़ित बनकर, अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं। अविनय के फलरूप में इस भव में अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं एवं उन्हें परभव में नरक निगोदादि के महा दुःख भोगने पड़ते हैं ।।८।।

सुविनीतता का फल :-

तहेव सुविणीअप्पा, लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ।।९।।

सं.छा.: तथैव सुविनीतात्मानो, लोकेऽस्मिन्नरनार्यः।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ।।९।।

भावार्थ : लोक में सुविनीत नर-नारी ऋद्धि महायश को प्राप्तकर महान सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ।।९।।

अविनीत आत्मा की देवलोक में दुर्दशा :-

तहेव अविणीअप्पा, देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति दुहमेहंता, आभिओग-मुवट्ठिया ।।१०।।

सं.छा.: तथैवाविनीतात्मानो, देवा यक्षाश्च गुह्यकाः।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः, आभियोग्यमुपस्थिताः ।।१०।।

भावार्थ : विनयहीन आत्मा को जन्मान्तर में देव योनि मिले तो वैमानिक ज्योतिषी, व्यंतर भवनपति आदि देवों की सेवा, अस्पृश्यता आदि के द्वारा दुःखानुभव होता है। ऐसा भावनयन से दिखायी देता है अर्थात् ज्ञान चक्षु से दिखायी देता है ।।१०।।

सुविनीत आत्मा को देवलोक में सुखानुभव :-

तहेव सुविणीअप्पा, देवा जक्खा अ गुज्झगा।
दीसंति सुहमेहंता, इड्ढिं पत्ता महायसा ।।११।।

सं.छा.: तथैव सुविनीतात्मानो, देवा यक्षाश्च गुह्यकाः।
दृश्यन्ते सुखमेधमाना, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ।।११।।

भावार्थ : उसी प्रकार सुविनीत आत्मा भवान्तर में वैमानिक, ज्योतिषी, व्यंतर, भुवनपति आदि देवलोक में इन्द्रादि की विशिष्ट दिव्य ऋद्धि को प्राप्तकर, महायशस्वी होकर श्री अरिहंत भगवंत के कल्याणक आदि के द्वारा महान पुण्योपार्जन करते हुए महानंद, महासुख के भागी होते हैं ।।११।।

सद्गुरु विनय एवं विनय का फल :-

जे आयरिय-उवज्झायाणं, सुस्सूसा-वयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढन्ति, जलसित्ता इव पायवा ।।१२।।

सं.छा.: य आचार्योपाध्याययोः, शुश्रूषावचनकराः।
तेषां शिक्षाः प्रवर्द्धन्ते, जलसिक्ता इव पादपाः ।।१२।।

भावार्थ : जो मुनि आचार्य भगवंत, उपाध्याय भगवंत (एवं मुनि भगवंत) की विनयपूर्वक सेवा करता है, आज्ञा पालन करता है, उनकी ग्रहण एवं आसेवन शिक्षा उसी प्रकार

बढ़ती है, जैसे जल से सिंचित वृक्ष ।।१२।।

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, सिप्पा नेउणियाणि य।
गिहिणो उवभोगट्ठा, इह लोगस्स कारणा ।।१३।।
जेण बन्धं वहं घोरं, परिआवं च दारुणं।
सिक्खमाणा नियच्छंति, जुत्ता ते ललिइंदिआ ।।१४।।
तेऽवि तं गुरुं पूयंति, तस्स सिप्पस्स कारणा।
सक्कारेंति नमंसंति, तुट्ठा निद्देस-वत्तिणो ।।१५।।
किं पुण जे सुअग्गाही, अणंत-हियकामए।
आयरिया जं वए भिक्खू, तम्हा तं नाईवत्तए ।।१६।।

सं.छा.: आत्मार्थं परार्थं वा, शिल्पानि नैपुण्यानि च।
गृहिण उपभोगार्थं, इहलोकस्य कारणम् ।।१३।।
येन बन्धं वधं घोरं, परितापं च दारुणम्।
शिक्षमाणा नियच्छन्ति, युक्तास्ते ललितेन्द्रियाः ।।१४।
तेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति, तस्य शिल्पस्य कारणात्।
सत्कारयन्ति नमस्यन्ति, तुष्टा निर्देशवर्त्तिनः ।।१५।।
किं पुन र्यः श्रुतग्राही, अनन्तहितकामुकः।
आचार्या यद्वदन्ति भिक्षुः, तस्मात्तन्नातिवर्त्तेत ।।१६।।

भावार्थ : जो गृहस्थ अपने और पराये के लिए शिल्पकला आदि में निपुणता, प्रवीणता, चित्रकला आदि में कौशल्यता प्राप्त करने हेतु कलाचार्य गुरु के द्वारा आवश्यकतानुसार दारुण वध, बन्धन परिताप, कष्ट को गर्भ श्रीमंत राजकुमारादि भी सहन करते हैं एवं वे कलाचार्य गुरु की सेवा पूजा करते हैं। उनकी आज्ञा का पालन करते हैं। (भौतिक कलाओं की प्राप्ति हेतु कष्ट सहन करते हुए भी आनंदपूर्वक गुरु सेवा करते हैं। तब वे कला प्राप्त कर सकते हैं।)

तो मुनि भगवंत जो मोक्ष सुख की इच्छावाले एवं श्रुतज्ञान को प्राप्त करने हेतु उत्कट इच्छावाले हैं। उनको आचार्यादि की सेवा पूजा एवं उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन अवश्य करना चाहिए। सद्गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं करना चाहिए।।१३-१६।।

नीअं सेज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदिज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं ।।१७।।

सं.छा.: नीचां शय्यां गतिं स्थानं, नीचानि चासनानि च।
नीचं च पादौ वन्देत, नीचं कुर्याच्चाञ्जलिम् ।।१७।।

भावार्थ : शिष्य गुरु से स्वयं की शय्या नीचे करे, उनके समीप सटकर, अति दूर गति

न करे, न चले, बैठने का स्थान नीचे रखना एवं पाट आदि आसन नीचे रखना, नीचे पैरों में मस्तक नमाकर वंदन करना और झुककर हाथ जोड़कर अंजलीकर नमस्कार करना।।१७।।

संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि।
खमेह अवराहं मे, वइज्ज न पुण त्ति अ ।।१८।।

सं.छा.: सङ्घट्य कायेन, तथोपधिनाऽपि च।
क्षमस्वापराधं मे, वदेच्च न पुनरिति ।।१८।।

भावार्थ : अनजाने में आचार्यादि सद्गुरु का अविनय हुआ हो तो शिष्य आचार्य महाराज के पास जाकर स्वहस्त से या मस्तक से गुरु चरण को स्पर्शकर या पास में न जा सके तो उपधि आदि पर हाथ स्थापन कर कहे : हे सद्गुरु भगवंत यह मेरा अपराध क्षमा करें! फिर से ऐसा अपराध नहीं करूंगा ।।१८।।

(सद्गुरु का काया से स्पर्श हुआ हो या उपधि आदि उपकरण से कोई अविनय आशातना हुई हो तो उसकी क्षमा याचना करना, पुनः ऐसा अपराध नहीं करूंगा ऐसा कहना)

दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहइ रहं।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं, वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ।।१९।।

सं.छा.: दुर्गौरिव प्रतोदेन, चोदितो वहति रथम्।
एवं दुर्बुद्धिः कृत्यानां, प्रोक्तः प्रोक्तः प्रकरोति ।।१९।।

भावार्थ : दुष्ट बैल चाबुकादि से प्रेरित होने पर रथवहन करता है वैसे दुर्बुद्धि शिष्य बार-बार प्रेरणा करने पर सद्गुरु का कार्य करता है।।१९।।

आलवन्ते लवन्ते वा, न निसिज्जाइ पडिस्सुणे।
मुत्तूणं आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे।
कालं छन्दोवयारं च, पडिलेहित्ताण हेउहिं।
तेणं तेणं उवाएणं, तं तं संपडिवायए ।।२०।।

सं.छा.: आलपन् लपन् वा, न निषद्यायां प्रतिशृणुयात्।
मुक्त्वा चासनं धीरः, शुश्रूषया प्रतिशृणुयात्।।
कालं छन्दोपचारं च, प्रत्युपेक्ष्य च हेतुभिः।
तेन तेनोपायेन, तत्तत्सम्प्रतिपादयेत् ।।२०।।

भावार्थ : सद्गुरु शिष्य को एक बार या बार-बार बुलावे तो शिष्य आसनस्थ उत्तर न दे पर स्व आसन छोड़कर, सद्गुरु के पास आकर, हाथ जोड़कर उत्तर दे। शिष्य काल, गुरु इच्छा, सेवा के भेद प्रभेद को समझकर, उस-उस उपाय से उन वस्तुओं, पदार्थों का संपादन करें। सद्गुरु की इच्छानुसार प्रत्येक कार्य करें ।।२०।।

विनय-अविनय का फलादेश :-

विवत्ती अविणीयस्स, सम्पत्ती विणियस्स अ।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छई ।।२१।।

सं.छा.: विपत्तिरविनीतस्य, सम्प्राप्तिर्विनीतस्य च।
यस्यैतदुभयतो ज्ञातं, शिक्षां सोऽधिगच्छति ।।२१।।

भावार्थ : अविनीत शिष्य के ज्ञानादि गुण का विनाश होता है और विनीत शिष्य को ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है। जिन्होंने ये दोनों भेद जाने हैं वे मुनि ग्रहण, आसेवन रूप दोनों प्रकार की शिक्षा को प्राप्त करते हैं कारण कि भाव से उपादेय का ज्ञान होता है।।२१।।

मोक्ष के लिए अनधिकारी :-

जे आवि चण्डे मई-इड्ढि-गारवे, पिसुणे नरे साहस-हीणपेसणे।
अदिट्ठ-धम्मे विणए अकोविए, असंविभागी न हु तस्स मुक्खो ।।२२।।

सं.छा.: यश्चापि चण्ड ऋद्धिगौरवमतिः, पिशुनो नरः साहसिको हीनप्रेषणः।
अदृष्टधर्मा विनयेऽकोविदः, असंविभागी नैव तस्य मोक्षः ।।२२।।

भावार्थ : जो भव्यात्मा चारित्र ग्रहण करने के पश्चात् चण्डप्रकृति युक्त है, बुद्धि एवं ऋद्धि गारव से युक्त है (ऋद्धिगारव में मति है जिसकी) पीठ पीछे निंदक/पिशुन है, अविमृश्यकारी/अकृत्य करने में तत्पर/साहसिक है, गुरु आज्ञा का यथा समय पालन न करनेवाला है, श्रुतादि धर्म से अज्ञात है, (धर्म की प्राप्ति जिसे नहीं हुई) विनय पालन में अनिपुण, (अनजान) है असंविभागी अर्थात् प्राप्त पदार्थ दूसरों को न देकर स्वयं अकेले ही उपभोग कर्ता है, इत्यादि दोषरूप कारणों से क्लिष्ट अध्यवसाय युक्त अधम आत्मा को मोक्ष प्राप्त नहीं होता ।।२२।।

मोक्षाधिकारी :-

निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं, सुयत्थ-धम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं, खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गयं ।।२३।।त्ति बेमि ।।

सं.छा.: निर्देशवर्तिनः पुनर्ये गुरूणां, श्रुतार्थधर्मा विनये कोविदाः।
तीर्त्वा ते ओघमेनं दुरुत्तरं, क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमां गताः ।।२३।।

।। इति ब्रवीमि ।।

भावार्थ : और जो-जो मुनि/शिष्य निरंतर गुर्वाज्ञा में प्रवृत्त हैं, गीतार्थ हैं, विनय धर्म के पालन में निपुण हैं, वे शिष्य/मुनि इस दुस्तर संसार समुद्र को पार करते हैं, सभी कर्मों का क्षयकर उत्तम सिद्धि गति को प्राप्त करते हैं ।।२३।।

श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी कहते हैं कि तीर्थंकरादि के कहे अनुसार मैं कहता हूँ!

तृतियोद्देशकः

शिष्य पूजनीय कब बनता है?

आयरियं अग्गि-मिवाहिअग्गी, सुस्सूसमाणो पडिजागरिज्जा।
आलोईयं इंगिअमेव नच्चा, जो छंदमाराहयई स पुज्जो ।।१।।

सं.छा.: आचार्यमग्निमिवाहिताग्निः, शुश्रूषमाणः प्रतिजागृयात्।
आलोकितमिङ्गितमेव ज्ञात्वा, यश्छन्दमाराधयति स पूज्यः ।।१।।

भावार्थ : जैसे अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि को देव मानकर उसकी शुश्रुषा जागरूक बनकर करता है। उसी प्रकार मुनि, सद्गुरु आचार्यादि के जो-जो कार्य हो, उन-उन कार्यों को कर, सेवा करे जैसे आचार्यादि सद्गुरु वस्त्र के सामने नजर करे, शीतऋतु हो तो समझना कि उन्हें कंबलादि की आवश्यकता है यह आलोकित अभिप्राय है, और जैसे उठने को तैयार हो, उस समय दंड आदि की आवश्यकता है, इत्यादि इंगित अभिप्राय को समझकर, उस अनुसार कार्य करनेवाला शिष्य पूज्य होता है। वह कल्याणभागी बनता है।।१।।

आयारमट्ठा विणयं पउंजे, सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो, गुरुं तु नासायइई स पुज्जो ।।२।।

सं.छा.: आचारार्थं विनयं प्रयुङ्क्ते, शुश्रूषन् परिगृह्य वाक्यम्।
यथोपदिष्टमभिकाङ्क्षन्, गुरुं तु नाशातयति स पूज्यः ।।२।।

भावार्थ : जो ज्ञानादि पंचाचार के लिए विनय करता है, आचार्यादि सद्गुरु की आज्ञा को सुनने की इच्छा रखनेवाला है, उनकी आज्ञा को स्वीकारकर, उनके कथनानुसार श्रद्धापूर्वक कार्य करने की इच्छावाला है एवं उनके वचनानुसार कार्यकर विनय का पालन करता है एवं उनके कथन से विपरीत आचरणकर आशातना न करनेवाला शिष्य है वह मुनि पूज्य है।।२।।

राइणिएसु विणयं पउंजे, डहरा वि य जे परियाय-जेट्ठा,
नियत्तणे वट्टई सच्चवाई, ओवायवं वक्कयरे स पुज्जो ।।३।।

सं.छा.: रात्निकेषु विनयं प्रयुङ्क्ते, डहरा अपि च ये पर्यायज्येष्ठाः।
नीचत्वे वर्तते सत्यवादी, अवपातवान् वाक्यकरः स पूज्यः ।।३।।

भावार्थ : जो मुनि रत्नाधिक मुनियों का एवं वय-पर्याय में अल्पवयस्क भी ज्ञान-व्रत-पर्याय में ज्येष्ठ हैं, उनका विनय करता है, अपने से अधिक गुणवानों के प्रति नम्रतापूर्वक वर्तन करता है, जो सत्यवादी है, सद्गुरु भगवंतों को वंदन करनेवाला है, आचार्य भगवंत के पास में रहनेवाला एवं उनकी आज्ञानुसार वर्तन करनेवाला है वह मुनि पूज्य है।।३।।

अन्नायउंछं चरई विसुद्धं, जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा, लद्धुं न विकत्थयइ स पुज्जो ।।४।।

सं.छा.: अज्ञातोञ्छं चरति विशुद्धं, यापनार्थं समुदानं च नित्यम्।
अलब्ध्वा न परिदेवयेत्, लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ।।४।।

भावार्थ : जो मुनि अपरिचित घरों से विशुद्ध आहार ग्रहणकर, निरंतर संयम भार को वहन करने हेतु देह निर्वाहार्थ गोचरी करता है, भिक्षा न मिलने पर खिन्न न होकर उस नगर या दाता की निंदा प्रशंसा नहीं करता वह मुनि पूज्य है ।।४।।

संथार-सेज्जा-सण-भत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभे वि सन्ते।
जो एवमप्पाणभितोसएज्जा, संतोस-पाहन्न-रए स पुज्जो ।।५।।

सं.छा.: संस्तारकशय्यासनभक्तपानानि, अल्पेच्छताऽतिलाभेऽपि सति।
य एवमात्मानमभितोषयति, सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्यः ।।५।।

भावार्थ : जो साधु संस्तारक पाट आदि शय्या, आसन, आहार पानी आदि देह निर्वाहार्थ संयम पालनार्थ उपकरण विशेष रूप में मिल रहे हो तो भी संतोष को प्रधानता देकर जैसे-तैसे संथारादि से स्वयं का निर्वाह करता है वह पूज्य है।।५।।

सक्का सहेउं आसाइ कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए, वईमए कण्णसरे स पुज्जो ।।६।।

सं.छा.: शक्याः सोढुं, आशया कण्टकाः, अयोमया उत्सहता नरेण।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान्, वचोमयान् कर्णसरान् स पूज्यः ।।६।।

भावार्थ : धनार्थी आत्मा धनार्थ धन की आशा से लोहमय कंटकों को उत्साहपूर्वक सहन करता है पर जो आत्मसुखार्थी मुनि किसी भी प्रकार की आशा के बिना कर्णपटल में पैठते हुए वचन रूपी कंटकों को उत्साहपूर्वक सहन करता है वह पूज्य है।।६।।

मुहुत्त-दुक्खा उ हवन्ति कंटया, अओमया ते वि तओ सु-उद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ।।७।।

सं.छा.: मुहूर्त्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टकाः, अयोमयास्तेऽपि ततः सूद्धराः।
वाग्दुरुक्तानि दुरुद्धराणि, वैरानुबन्धीनि महाभयानि ।।७।।

भावार्थ : लोहमय काँटे मुहूर्त मात्र दुःखदायक है एवं वे सुखपूर्वक निकाले जा सकते हैं, पर दुर्वचन रूपी काँटे सहजता से नहीं निकाले जा सकते। वे वैरानुबंधी हैं। वैर की परंपरा बढ़ानेवाले हैं। और कुगति में भेजने रूप महाभयानक हैं ।।७।।

समावयंता वयणाभिघाया, कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ।।८।।

सं.छा.: समापतन्तो वचनाभिघाताः, कर्णं गता दौर्मनस्यं जनयन्ति।

धर्म इति कृत्वा परमाग्रशूरो, जितेन्द्रियो यः सहते स पूज्यः ।।८।।

भावार्थ : सामनेवाले व्यक्ति के द्वारा कहे जानेवाले कठोर परूष वचन रूपी प्रहार कानों में लगने से मन में दुष्ट विचार उत्पन्न होते हैं। जो महाशूरवीर और जितेन्द्रिय मुनि वचन रूपी प्रहार को, सहन करना मेरा धर्म है ऐसा मानकर, सहन करता है वह पूज्य है।।८।।

अवण्णवायं च परम्मुहस्स, पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च, भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो।।९।।

सं.छा.: अवर्णवादं च पराङ्मुखस्य, प्रत्यक्षतश्च प्रत्यनीकां च भाषाम्।
अवधारिणीमप्रियकारिणीं च, भाषां न भाषेत सदा स पूज्यः ।।९।।

भावार्थ : जो दूसरों के पीठ पीछे अवर्णवाद (निंदा) न करनेवाला, सामने दुःखद वचन नहीं कहता, निश्चयात्मक भाषा एवं अप्रीति कारिणी भाषा का प्रयोग नहीं करता वह पूज्य है ।।९।।

अलोलुए अक्कुहए अमाइ, अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए नो विय भाविअप्पा, अकोउहल्ले य सया स पुज्जो।।१०।।

सं.छा.: अलोलुपोऽकुहकोऽमायी, अपिशुनश्चाप्यदीनवृत्तिः।
नो भावयेद् नाऽपि च भावितात्मा, अकौतुकश्च सदा स पूज्यः ।।१०।।

भावार्थ : जो रसलोलुप नहीं है, जो इन्द्रजालादि नहीं करता, कुटिलता रहित है, चुगली नहीं करता, अदीन वृत्ति युक्त है, न स्वयं किसी के अशुभ विचारों में निमित्त बनता है, न स्वयं अशुभ विचार करता है, न स्वयं स्व प्रशंसा करता है, न स्वयं की प्रशंसा दूसरों से करवाता है, और कौतुकादि कोतुहल से निरंतर दूर रहता है। वह मुनि पूज्य है।।१०।।

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गेण्हाहि साहु-गुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पग-मप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ।।११।।

सं.छा.: गुणैश्च साधुरगुणैरसाधुः, गृहाण साधुगुणान् मुञ्चासाधुगुणान्।
विज्ञापयत्यात्मानमात्मना, यो रागद्वेषयोः समः स पूज्यः ।।११।।

भावार्थ : गुणों के कारण साधु एवं अगुण (दुर्गुण) के कारण असाधु होता है अतः साधु के गुणों को (साधुता) को ग्रहणकर, असाधुता को छोड़ दे। इस प्रकार जो मुनि अपनी आत्मा को समझाता है, एवं राग द्वेष के प्रसंग पर समभाव धारण करता है। वह मुनि पूज्य है ।।११।।

तहेव डहरं व महल्लगं वा, इत्थीं पुमं पव्वइयं गिहिं वा।
नो हीलए नोऽवि य खिंसएज्जा, थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ।।१२।।

सं.छा.: तथैव डहरं वा महल्लकं वा, स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा।

न हीलयति नापि च खिंसयति, स्तम्भं च क्रोधं च त्यजति स पूज्यः ।।१२।।

भावार्थ : और जो साधु लघु या वृद्ध (स्थविरादि) की, स्त्री-पुरुष की, प्रवजित या गृहस्थ की, हीलना न करें बार-बार लज्जित न करे (खींसना न करे) और तद्निमित्तभूत मान एवं क्रोध का त्याग करे वह मुनि पूज्य है ।।१२।।

जे माणिया सययं माणयंति, जत्तेण कन्नं व निवेसयंति।
ते माणए माणरिहे तवस्सी, जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो।।१३।।

सं.छा.: ये मानिताः सततं मानयन्ति, यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति।
तान् मानयति मानार्हान् तपस्वी, जितेन्द्रियः सत्यरतः स पूज्यः ।।१३।।

भावार्थ : जो गुरु शिष्यों के द्वारा सम्मानित किये जाने पर शिष्यों को सतत सम्मानित करते हैं, श्रुत ग्रहण करने हेतु उपदेश द्वारा, प्रेरित करते हैं जैसे माता-पिता, कन्या को यत्नपूर्वक सुयोग्य पति प्राप्त करवाते हैं, सुयोग्य कुल में स्थापित करते हैं। उसी प्रकार जो आचार्य सुयोग्य शिष्य को सुयोग्य मार्ग पर स्थापित करते हैं। योग्यतानुसार पद विभूषित करते हैं। ऐसे माननीय पूजनीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय सत्यरत आचार्य भगवंत को जो मान देता है वह शिष्य पूजनीय है ।।१३।।

तेसिं गुरुणं गुणसायराणं, सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं।
चरे मुणी पंच-रए तिगुत्तो, चउक्कसाया-वगए स पुज्जो।।१४।।

सं.छा.: तेषां गुरूणां गुणसागराणां, श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि।
चरति मुनिः पञ्चरतस्त्रिगुप्तः, चतुःकषायापगतः स पूज्यः ।।१४।।

भावार्थ : जो बुद्धिनिधान मुनि गुणसागर गुरुओं के शास्त्रोक्त सुवचन को श्रवणकर पंच महाव्रतों से युक्त, तीन गुप्ति से गुप्त एवं चार कषायों से दूर रहता है वह मुनि पूज्य है।।१४।।

गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी, जिणमय-निउणे अभिगम-कुसले।
धुणिय रयमलं पुरेकडं, भासुर-मउलं गइं गय ।।१५।। त्ति बेमि ।।

सं.छा.: गुरुमिह सततं परिवर्य मुनिः, जिनमतनिपुणोऽभिगमकुशलः।
विधूय रजोमलं पुराकृतं, भास्वरामतुलां गतिं गच्छति ।।१५।।

।। इति ब्रवीमि ।।

भावार्थ : श्री जिन कथित धर्माचरण में निपुण, अभ्यागत मुनि आदि की वैयावच्च में कुशल साधु निरंतर आचार्यादि की सेवादि द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मरज को दूरकर ज्ञान तेज से अनुपम ऐसी उत्तम सिद्धि गति में जाता है ।।१५।।

श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी कहते हैं कि तीर्थंकरादि के कहे अनुसार मैं कहता हूँ।

चार प्रकार से विनय समाधि :-

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं,
इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा
पण्णत्ता, कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणय-
समाहि-ट्ठाणा पण्णत्ता? ईमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं
चत्तारि विणय-समाहि-ट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा-
[1]विणयसमाही [2]सुयसमाही, [3]तवसमाही, [4]आयारसमाही ।।

सं.छा.: श्रुतं मयाऽऽयुष्मंस्तेन भगवतैवमाख्यातम्,
इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि
प्रज्ञप्तानि, कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिः,
चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि? अमूनि खलु तानि
स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनयसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा
विनयसमाधिः, श्रुतसमाधिः, तपःसमाधिः, आचारसमाधिः ।।

भावार्थ : श्री सुधर्मास्वामी जम्बू नामक शिष्य से कहते हैं हे आयुष्मन्! मैंने भगवंत के पास से सुना है कि 'भगवंत ने विनय समाधि के चार स्थान कहे हैं।'

(शिष्य का प्रश्न) हे भगवंत! स्थविर भगवंत ने विनय समाधि के कौन से चार स्थान कहे हैं?

(गुरु का प्रत्युत्तर) ये इस प्रकार उन स्थविर भगवंत ने विनय समाधि के चार स्थान कहे हैं। (१) विनय समाधि, (२) श्रुत समाधि, (३) तप समाधि, (४) आचार समाधि।।१।।

श्लोक

विणए सुए अ तवे, आयारे निच्च पंडिया।
अभिरामयंति अप्पाणं, जे भवंति जिइंदिया ।।१।।

सं.छा.: विनये श्रुते च तपसि, आचारे नित्यं पण्डिताः,
अभिरमयन्ति आत्मानं, ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ।।१।।

भावार्थ : जो साधु स्वात्मा को विनय, श्रुत, तप एवं आचार में लीन रखते हैं और जो जितेन्द्रिय हैं वे मुनि नित्य साध्वाचार का पालन करने से पंडित हैं ।।१।।

चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ, तं जहा-
अणुसासिज्जन्तो सुस्सूसइ १, सम्मं सम्पडिवज्जइ २,
वेयमाराहइ ३, न य भवइ अत्तसम्पग्गहिए ४,

चउत्थं पयं भवइ भवइ य एत्थ सिलोगो ।।

पेहेई हियाणुसासणं, सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठिए।
न य माण-मएण मज्जई, विणय-समाही आययट्ठिए ।।२।।

सं.छा.: चतुर्विधः खलु विनयसमाधिर्भवति, तद्यथा अनुशास्यमानः
शुश्रूषति १, सम्यक् सम्प्रतिपद्यते२, वेदमाराधयति ३,
न च भवत्यात्मसम्प्रगृहीतः ४, चतुर्थं पदं भवति, भवति
चात्र श्लोकः ।।३।।
प्रार्थयते हितानुशासनं, शुश्रूषति तच्च पुनरधितिष्ठति।
न च मानमदेन माद्यति, विनयसमाधावायतार्थिकः ।।२।।

भावार्थ : विनय समाधि चार प्रकार से है। वह इस प्रकार -

(१) गुरु द्वारा अनुशासन का श्रवणेच्छु।
(२) गुरु आज्ञा को सम्यग्ज्ञानपूर्वक स्वीकार करे।
(३) गुरु आज्ञानुसार कार्य को करके श्रुतज्ञान को सफल करे।
(४) विशुद्ध प्रवृत्ति का अहंकार न करे।

इस अर्थ का स्पष्टीकरण करनेवाला एक श्लोक कहा है।

आत्महितार्थी श्रमण हितशिक्षा की अभिलाषा रखता है उसको सम्यक् प्रकार से जानकर स्वीकार करता है, उस अनुसार साध्वाचार का पालन करता है, एवं पालन करते हुए मैं विनीत साधु हूँ ऐसा गर्व नहीं करता ।।२।।

श्रुत समाधि :-

चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ, तं जहा-सुयं मे भविस्सइत्ति अज्झाइयव्वं भवइ १, एगग्गचित्तो भविस्सामित्ति अज्झाइयव्वं भवइ २, अप्पाणं ठावइस्सामित्ति अज्झाइयव्वं भवइ ३, ठिओ परं ठावइस्सामित्ति अज्झाइयव्वं भवई ४, चउत्थं पयं भवई, भवइ य एत्थ सिलोगो ।।

नाणमेगग्ग-चित्तो य, ठिओ य ठावई परं।
सुयाणि य अहिज्जित्ता, रओ सुय-समाहिए ।।३।।

सं.छा.: चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति तद्यथाश्रुतं मे भविष्यतीत्यध्येतव्यं भवति १ एकाग्रचित्तो भविष्यामीत्यध्येतव्यं भवति २ आत्मानं स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति ३ स्थितः परं स्थापयिष्यामी-त्यध्येतव्यं भवति ४ चतुर्थं पदं भवति, भवति चात्र श्लोकः ।।
ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च, स्थितश्च स्थापयति परम्।

श्रुतानि चाधीत्य, रतः श्रुतसमाधौ ।।३।।

भावार्थ : श्रुत समाधि चार प्रकार से है। वह इस प्रकार -

(१) मुझे श्रुतज्ञान की प्राप्ति होगी अतः अध्ययन करना चाहिए।

(२) एकाग्र चित्त वाला बनूंगा अतः अध्ययन करना चाहिए।

(३) आत्मा को शुद्ध धर्म में स्थापन करूंगा। अतः अध्ययन करना चाहिए।

(४) शुद्ध धर्म में स्वयं रहकर दूसरों को शुद्ध धर्म में स्थापन करूंगा इस हेतु अध्ययन करना चाहिए।

इस अर्थ को बतानेवाला एक श्लोक कहा है।

अध्ययन में निरंतर तत्पर रहने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, उससे चित्त की स्थिरता रहती है, स्वयं स्थिर धर्मात्मा दूसरों को स्थिर करता है और अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को रहस्य युक्त जानकर श्रुत समाधि में रक्त बनता है ।।३।।

तप समाधि :-

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तं जहा-नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा १, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा २, नो कित्ति-वण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ३, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ४, चउत्थं पयं भवइ, भवइ य एत्थ सिलोगो ।।

विविह गुण-तवो-रए य निच्चं, भवइ निरासए निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराण-पावगं, जुत्तो सया तव-समाहिए ।।४।।

सं.छा.: चतुर्विधः खलु तपःसमाधिर्भवति, तद्यथा-नेह लोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् १, नो परलोकार्थं तपोऽधितिष्ठेत् २ नो कीर्तिवर्ण-शब्दश्लाघार्थं तपोऽधितिष्ठेत् ३ नान्यत्र निर्जरार्थं तपोऽधितिष्ठेत् ४ चतुर्थं पदं भवति, भवति चात्र श्लोकः ।।

विविधगुणतपोरतश्च नित्यं, भवति निराशो निर्जरार्थिकः।
तपसा धुनोति पुराणपापं, युक्तः सदा तपःसमाधौ ।।४।।

भावार्थ : तप समाधि चार प्रकार से है वह इस प्रकार -

(१) इह लोक में लब्धि आदि की प्राप्ति हेतु तप न करना।

(२) परलोक में देवादि की सुख-सामग्री की प्राप्ति हेतु तप न करना।

(३) सर्व दिशा में व्यापक कीर्ति, एक दिशा में व्यापक (यश) वर्ण, अर्ध दिशा में व्यापक प्रशंसा वह शब्द एवं उसी स्थान में प्रशंसा वह श्लोक, अर्थात् कीर्ति, वर्ण, शब्द एवं श्लोक हेतु तप न करना।

(४) किसी भी प्रकार की इच्छा के बिना एकमेव निर्जरार्थ तप करना। यह

चतुर्थ पद है। इन्हीं अर्थों को बतानेवाला श्लोक कहा है।

जो साधु विविध प्रकार के गुण युक्त तप धर्म में निरंतर आसक्त रहते हैं, इहलोकादि की आशंसा रहित और केवल एकमेव कर्म निर्जरार्थ तप धर्म का आचरण करता है, उस तप धर्म के द्वारा पूर्वोपार्जित कर्मों का नाश करता है, ऐसा साधु नित्य तपसमाधि से युक्त है एवं नये कर्मों का बंध नहीं करता ।।४।।

आचार समाधि :-

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ, तं जहा-नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा १, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा २, नो कित्ति-वण्णसद्द-सिलोगट्ठयाए- आयारमहिट्ठिज्जा ३, नन्नत्थ आरहन्तेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा ४, चउत्थं पयं भवइ, भवइ य एत्थ सिलोगो ।।

जिणवयण-रए अतिंतिणे, पडिपुण्णायय-माययट्ठिए।
आयारसमाहि-संवुडे, भवई य दन्ते भाव-संधए ।।५।।

सं.छा.: चतुर्विधः खल्वाचारसमाधिर्भवति, तद्यथा नेहलोकार्थमाचारमधि- तिष्ठेत् १ नो परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत् २ नो कीर्तिवर्णशब्द- श्लाघार्थमाचारमधितिष्ठेत्, ३ नान्यत्र आर्हतै र्हेतुभिराचारमधि- तिष्ठेत्, ४ चतुर्थं पदं भवति, भवति चात्र श्लोकः ।।

जिनवचनरतोऽतिन्तिनः, प्रतिपूर्ण आयतमायतार्थिकः।
आचारसमाधिसंवृतो, भवति च दान्तो भावसंन्धकः ।।५।।

भावार्थ : मूल-उत्तर गुण रूप आचार समाधि चार प्रकार से है। वह इस प्रकार है-

(१) इहलोक में सुख प्राप्ति हेतु आचार पालन न करना।

(२) परलोक में सुख प्राप्ति हेतु आचार पालन न करना।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए आचार पालन न करना।

(४) एकमेव श्री अरिहंत भगवंत द्वारा कहे हुए अनाश्रव पना (मोक्ष) प्राप्त करने हेतु आचार धर्म का पालन करना। यह चतुर्थ पद है। इसी अर्थ को दर्शानेवाला श्लोक कहा है।

आचार धर्म में समाधि रखने से, आश्रव द्वार को रोकनेवाला, जिनागम में आसक्त, अक्लेशी, शान्त, सूत्रादि से परिपूर्ण, अत्यंत उत्कृष्ट मोक्षार्थी, इंद्रिय एवं मन का दमन करनेवाला बनकर आत्मा को मोक्ष के निकट करनेवाला बनता है।।५।।

उपसंहार :-

अभिगम चउरो समाहिओ, सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।

विउल-हिय-सुहावहं पुणो, कुव्वई सो पय-खेममप्पणो ।।६।।

जाइमरणाओ मुच्चई, इत्थंत्थं च चयई सव्वसो।
सिद्धे वा भवई सासए, देवे वा अप्परए महड्ढिए ।।७।। त्ति बेमि ।।

सं.छा.: अभिगम्य चतुरः समाधीन्, सुविशुद्धः सुसमाहितात्मा।
विपुलहितसुखावहं पुनः, करोत्यसौ पदं क्षेममात्मनः ।।६।।
जातिमरणान्मुच्यते, इत्थंस्थं च त्यज्यति सर्वशः।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः, देवो वा, अल्परतो महर्द्धिकः ।।७।।
।। इति ब्रवीमि ।।

भावार्थ : चार प्रकार की समाधि के स्वरूप को पूर्णरूप से जानकर, तीन योग से सुविशुद्ध सतरह प्रकार के संयम पालन में सुसमाहित श्रमण अपने लिए विपुल हितकारी एवं सुखद स्व स्थान (मोक्ष पद) को प्राप्त करता है ।।६।।

इन समाधियों से युक्त श्रमण जन्म मरण से मुक्त होता है। नरकादि अवस्थाओं को सर्वथा छोड़ देता है। शाश्वत सिद्ध होता है या अल्पविकारवाला महर्द्धिक देव बनता है।।७।।

श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी कहते हैं कि ऐसा मैं तीर्थंकरादि द्वारा कहा हुआ कहता हूँ।

❋ ❋ ❋

१० सभिक्षु नामकं दशमं अध्ययनम्

संबंध - नवम अध्ययन में विनय का स्वरूप दर्शाया है। उस विनय धर्म का पालन उत्कृष्टता से मुनि ही कर सकता है। विनय धर्म पालन युक्त, किन-किन आचरणाओं का पालन करने से, आत्महित साधक 'भिक्षु' कहा जाता है। उसका स्वरूप 'स भिक्खू' नामक दशम अध्ययन में दर्शाया है।

उपयोगी शब्दार्थ - (निक्खम्म) गृहस्थावास से निकलकर (हविज्जा) होता है (वसं) परतंत्रता (पडियायइ) पान करे, सेवन करे ।।१।। (सुनिसियं) अतितीक्ष्ण धारयुक्त ।।२।। (वहणं) हिंसा (पए) पकावे ।।४।। (रोइय) रूचि धारणकर (अत्तसमे) स्व समान (मन्नेज्ज) माने (छप्पि काए) छ काय ।।५।। (धुवजोगी) स्थिर योगी (अहणे) पशु से रहित ।।६।। (निज्जाय-रूव रयए) स्वर्ण रूप्यादि का त्यागी ।।७।। (होही) होगा (अट्ठो) काम के लिए (सुए) कल (परे) परसों (निहे) रखें (निहावए) रखावे ।।८।। (छन्दिय) बुलाकर, आमंत्रित कर ।।९।। (वुग्गहियं) क्लेश युक्त (निहु इन्दिए) इंद्रियों को शांत रखनेवाला (अविहेडए) तिरस्कृत न करना, उचित कार्य में अनादर न करना ।।१०।। (गाम कंटए) इन्द्रियों को दुःख का कारण (तज्जमाणो) तर्जना (मात्सर्य) वचन

(सप्पहासे) अट्टहास्ययुक्त (समसुहदुक्खसहे) समभावपूर्वक सुखदुःख सहन करे ।।११।। (भीयए) भय पावे (दिअस्स) देखकर (अभिकंखए) इच्छा रक्खे ।।१२।। (असइं) सर्वकाल (वोसट्ठचत्तदेहे) रागद्वेष रहित, आभूषण रहित देह युक्त वचन से घायल (अकुट्ठ) तुच्छकार के वचन से घायल (हए) दंड से घायल (लूसिए) खड्गादि से घायल ।।१३।। (अभिभूय) जीतकर (विइत्तु) जानकर (सामणिए) साधु को ।।१४।। (जाइपहाओ) जातिपथ संसारमार्ग से (संजए) वश में रखनेवाला (अज्झप्परए) अध्यात्म में लीन ।।१५।। (उवहिम्मि) उपधि में (संगावगए) द्रव्य भाव संग रहित (अन्नायउंछं) अपरिचित घरों से शुद्ध अल्प वस्त्र लेने वाला (पुल निप्पुलाए) चारित्र में असारता उत्पन्न करनेवाले दोषों से रहित ।।१६।। (अलोल) लोलुपता रहित (इड्ढिं) ऋद्धि आदि लब्धि को (अणिहे) माया रहित ।।१७।। (वएज्जा) कहे ।।१८।। (अज्जपयं) शुद्धधर्म को (कुसीललिंगं) कुशीलता की चेष्टा को (हासंकुहए) हास्य करनेवाला ।।२०।। (छिन्दित्तु) छेदकर ।।२१।।

वांत भोगों का अनासेवी :-

निक्खम्ममाणाइ य बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे, वंतं नो पडियायइ जे स भिक्खू ।।१।।

सं.छा.: निष्क्रम्य, आज्ञया च बुद्धवचने, नित्यं चित्तसमाहितो भवेत्।
स्त्रीणां वशं न चापि गच्छेद्, वान्तं नो प्रत्यापिबति यः स भिक्षुः ।।१।।

भावार्थ : तीर्थंकरादि के उपदेश से गृहस्थाश्रम से निकलकर, निर्ग्रंथ प्रवचन में सदा अति प्रसन्नतापूर्वक, चित्त समाधियुक्त बनना चाहिए। चित्त समाधियुक्त रहने हेतु मुनि, सभी असत् कार्यों के बीज रूपी स्त्री के वश में न आवे (स्त्री की आधिनता स्वीकार न करे) वांत भोगों को पुनः भोगने की चाहना न करे। वही भिक्षु है ।।१।।

हिंसा से रहित :-

पुढविं न खणे न खणावए, सीओदगं न पिए न पियावए।
अगणि-सत्थं जहा सुनिसियं, तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ।।२।।
अनिलेण न वीए न वीयावए, हरियाणि न छिंदे न छिंदावए।
बीयाणि सया विवज्जयन्तो, सचित्तं नाहारए जे स भिक्खू ।।३।।

सं.छा.: पृथिवीं न खनति न खानयति, शीतोदकं न पिबति न पाययति।
अग्निः शस्त्रं यथा सुनिशितं, तं न ज्वलति न ज्वालयति यः स भिक्षुः ।।२।।
अनिलेन न वीजयति न वीजयति, हरितानि न छिनत्ति न छेदयति।
बीजानि सदा विवर्जयन्, सचित्तं नाहारयति यः स भिक्षुः ।।३।।

भावार्थ : जो पृथ्वीकाय का खनन् न करे न करावे, सचित्त जल न पीयें न पीलावे, सुतीक्ष्णशस्त्रसम षड्जीवनिकाय घातक अग्नि न जलावे, न जलवाये, यानि पृथ्वीकाय

आदि की विराधना न करनेवाला मुनि है। भिक्षु है।।२।।

जो वस्त्रादि से हवा न करता है, न करवाता है, वनस्पतिकाय का छेदन भेदन न करता है न करवाता है। बीजों के संघट्टे से दूर रहता है और सचित्ताहार का भक्षण नहीं करता। वह भिक्षु है ।।३।।

आहार शुद्धि :-

वहणं तस्स-थावराण होइ, पुढवि-तण-कट्ठ-निस्सियाणं।
तम्हा उद्देसियं न भुंजे, नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू ।।४।।

सं.छा.: वधनं त्रसस्थावराणां भवति, पृथिवीतृणकाष्ठनिश्रितानाम्।
तस्मादौद्देशिकं न भुङ्क्ते, नाऽपि पचति न पाचयति यः स भिक्षुः ।।४।।

भावार्थ : पृथ्वी, तृण एवं काष्ठादि की निश्रा में रहे हुए त्रस एवं स्थावर जीवों के वध के कारण से साधु के लिए बने हुए औद्देशिकादि आहार जो साधु नहीं खाता है एवं स्वयं आहार न पकाता है, न दूसरों से पकवाता है। वह साधु है।

श्रद्धापूर्वक आचार पालन :-

रोईय-नायपुत्त-वयणे, अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए।
पंच य फासे महव्वयाइ, पंचासव-संवरए जे स भिक्खू ।।५।।
चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जाय-रूवरयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ।।६।।
सम्मद्दिट्ठि सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।
तवसा धुणई पुराण-पावगं, मण-वय-काय-सुसंवुडे जे स भिक्खू ।।७।।

सं.छा.: रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनं, आत्मसमान् मन्यते षडपि कायान्।
पञ्च च स्पृशति महाव्रतानि, पञ्चाश्रवसंवृतश्च यः स भिक्षुः ।।५।।
चतुरो वमति सदा कषायान्, ध्रुवयोगी भवति बुद्धवचने।
अधनो निर्जातरूपरजतो, गृहियोगं परिवर्जयति यः स भिक्षुः ।।६।।
सम्यग्दृष्टिः सदा अमूढः, अस्ति तु ज्ञानं तपः संयमश्च।
तपसा धुनोति पुराणपापकं, मनोवाक्कायसुसंवृतो यः स भिक्षुः ।।७।।

भावार्थ : ज्ञातपुत्र श्री वर्धमान स्वामी के वचनों पर रूचि धारण कर अर्थात् श्रद्धापूर्वक जो मुनि छ जीव निकाय को स्वात्म तुल्य मानता है, पांच महाव्रतों का पालन करता है, और पंचाश्रव को रोकता है। वह भिक्षु है।।५।।

जो मुनि आगम वचनों से चार कषायों का नित्य त्याग करता है, मन-वचन-काया के योगों को स्थिर रखता है, पशु एवं स्वर्ण, रुप्यादि का त्याग करता है और गृहस्थों से परिचय संबंध नहीं रखता। वह भिक्षु है ।।६।।

जो समकित दृष्टि और अमूढ (चित्त में चंचलता रहित) है। वह मुनि ऐसा

मानता है कि 'हेयोपादेय दर्शक ज्ञान है, कर्म मल को धोने हेतु जल समान तप है, आते कर्मो को रोकने वाला संयम है' ऐसे दृढ़भाव से तप द्वारा पूर्व के पाप कर्मो का नाश करता है। मन-वचन-काया को संवर करने वाला अर्थात् तीन गुप्तियों से गुप्त एवं पांच समितियों से युक्त है। वह भिक्षु है।।७।।

आहार शुद्धि :-

तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइम-साइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा, तं न निहे न निहावए जे स भिक्खु ।।८।।
तहेव असणं पाणगं वा, विविहं खाइम-साइमं लभित्ता।
छंदिय साहम्मिआण भुंजे, भोच्चा सज्झाय-रए य जे स भिक्खू ।।९।।

सं.छा.: तथैव, अशनं पानकं वा, विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा।
भविष्यति, अर्थः श्वः परश्वो वा, तन्न निधत्ते न निधापयति यः स भिक्षुः।।८।।
तथैव, अशनं पानकं वा, विविधं खाद्यं स्वाद्यं लब्ध्वा।
छन्दित्वा साधर्मिकान् भुङ्क्ते, भुक्त्वा स्वाध्यायरतश्च यः स भिक्षुः।।९।।

भावार्थ : और विविध प्रकारे के, चारों प्रकार के निर्दोष आहार को प्राप्तकर, यह मुझे कल-परसों काम आयगा ऐसा सोचकर मुनि किसी प्रकार का आहार रातवासी (सन्निधि) न रखें, न रखावे। वह भिक्षु है।।८।।

उसी प्रकार विविध चारों प्रकार के आहार को प्राप्तकर स्वधर्मी मुनि भगवंतों को निमंत्रितकर आहार करता है और करने के बाद स्वाध्याय ध्यान में रहता है। वह भिक्षु है।।९।।

योग शुद्धि :-

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमे धुवं जोगेण जुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू।।१०।।

सं.छा.: न च वैग्रहिकां कथां कथयति, न च कुप्यति निभृतेन्द्रियः प्रशान्तः।
संयमे ध्रुवं योगेन युक्तः, उपशान्तोऽविहेडको यः स भिक्षुः ।।१०।।

भावार्थ : जो मुनि कलहकारिणी कथा नहीं कहता, सद्वाद कथा में दूसरों पर कोप नहीं करता, इंद्रियां शांत रखता है, रागादि से रहित, विशेष प्रकार से शांत रहता है, संयम में निरंतर तीनों योगों को प्रवृत्त रखता है, स्थिर रखता है, उपशांत रहता है। एवं उचित कार्य का अनादर नहीं करता (किसी का तिरस्कार नहीं करता) वह भिक्षु है।।१०।।

परिसह सहन :-

जो सहइ हु गाम-कण्टए, अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य।
भय-भेरव-सद्द-सप्पहासे, सम-सुह-दुक्ख-सहे य जे स भिक्खू ।।११।।
पडिमं पडिवज्जिया मसाणे, नो भीयए भय भेरवाइं दिस्स।

विविह गुण तवो-रए य निच्चं, न सरीरं चाभिकंखई जे स भिक्खू ।।१२।।
असइं वोसट्ठ-चत्त-देहे, अकुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढवि-समे मुणी हविज्जा, अनियाणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू ।।१३।।
अभिभूय काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइ-पहाओ अप्पयं।
विइत्तु जाई-मरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू।।१४।।

सं.छा.: यः सहते खलु ग्रामकण्टकान्, आक्रोशप्रहारतर्जनाश्च।
भयभैरवशब्दसप्रहासे, समसुखदुःखसहश्च यः स भिक्षुः ।।११।।
प्रतिमां प्रतिपद्य स्मशाने, नो बिभेति भयभैरवानि दृष्ट्वा।
विविधगुणतपोरतश्च नित्यं, न शरीरं चाभिकाङ्क्षति यः स भिक्षुः ।।१२।।
असकृद् व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः, आक्रुष्टो वा हतो वा लूषितो वा।
पृथिवीसमो मुनिर्भवति, अनिदानोऽकुतूहलो यः स भिक्षुः ।।१३।।
अभिभूय कायेन परीषहान्, समुद्धरति जातिपथादात्मानम्।
विदित्वा जातिमरणं महाभयं, तपसि रतः श्रामण्ये यः स भिक्षुः ।।१४।।

भावार्थ : जो मुनि इंद्रियों को दुःख का कारण होने से, लोह कंटक-सम आक्रोश, प्रहार तर्जना, ताड़नादि को सहन करता है, अत्यंत रौद्र, भयानक, अट्टहास्य आदि शब्द को, देवादि के उपसर्ग को / सुख-दुःख को समभावपूर्वक सहन करता है। वह (मुनि) भिक्षु है।।११।।

जो मुनि स्मशान में प्रडिमा/प्रतिमा स्वीकारकर, रौद्र भय के हेतु भूत वैताल आदि के शब्द, रूपादि को देखकर, भयभीत नहीं होता और विविध प्रकार के मूलगुण और अनशनादि तप में आसक्त होकर शरीर पर भी ममत्व भाव नहीं रखता। वह भिक्षु है।।१२।।

जो मुनि राग द्वेष रहित, आभूषण, विभूषा रहित निरंतर देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है, वचन से आक्रोश से दंडादि से पीटे, खड्गादि से काटे तो भी पृथ्वी के समान सभी दुःख सहन करता है, संयम के भावी फल हेतु नियाणारहित, एवं कौतुहल रहित है। वह साधु है।।१३।।

जो मुनि काया से परिषह का पराजयकर, संसार मार्ग से स्वात्मा का समुधार करता है, संसार मार्ग के मूलकारण रूपी महाभय को जानकर साधुत्व के योग्य, तपधर्म में प्रयत्न करता है, वह भिक्षु है।।१४।।

विविध गुणों से संयुक्त :-

हत्थ-संजए, पाय-संजए, वाय-संजए संजइंदिए।
अज्झप्प रए सुसमाहियप्पा, सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू ।।१५।।

सं.छा.: हस्तसंयतः पादसंयतः, वाक्संयतः संयतेन्द्रियः।

अध्यात्मरतः सुसमाहितात्मा, सूत्रार्थं च विजानाति यः स भिक्षुः ।।१५।।

भावार्थ : जो साधु हाथों से, पैरों से, वचन से, एवं इंद्रियों से संयत है, अध्यात्मभाव में लीन रहता है, ध्यान कारक गुणों में आत्मा को सुस्थित करता है, और सूत्रार्थ को यथार्थ जानता है। वह भिक्षु है।।१५।।

उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे, अन्नाय उंछं पुल-निप्पुलाए।
कय-विक्कय-सन्निहिओ विरए, सव्व-संगावगए य जे स भिक्खू ।।१६।।

सं.छा.: उपधौ, अमूर्च्छितः, अगृद्धः, अज्ञातोञ्छं पुलाकनिष्पुलाकः।
क्रयविक्रयसन्निधिभ्यो विरतः, सर्वसङ्गापगतश्च यः स भिक्षुः ।।१६।।

भावार्थ : जो साधु उपधि में अमूर्च्छित है, आसक्ति रहित है। अपरिचित घरों से शुद्ध आवश्यक अल्प वस्त्र लेता है, संयम को निःसार करनेवाले दोषों से रहित है। क्रय-विक्रय और संग्रह से रहित है, द्रव्य भाव संग का त्यागी है, वह भिक्षु है ।।१६।।

अलोल-भिक्खू न रसेसु गिद्धे, उंछं चरे जीवियं नाभिकंखे,
इड्ढिं च सक्कारण-पूयणं च, चए ठियप्पा अणिहे जे स भिक्खू ।।१७।।

सं.छा.: अलोलभिक्षुर्न रसेषु गृद्धः, उञ्छं चरति जीवितं नाभिकाङ्क्षते।
ऋद्धिं च सत्कारणपूजनं च, त्यजति स्थितात्मा, अनिभो यः स भिक्षुः।।१७।।

भावार्थ : जो साधु अलोलुप है, रसगृद्धि से रहित है, अपरिचित घरों से आहार लेनेवाला है, असंयमित जीवन की आकांक्षा से रहित है, लब्धिरूपी ऋद्धि की पूजा, सत्कार की इच्छा से रहित है वह भिक्षु है ।।१७।।

न परं वएज्जासि 'अयं कुसीले', जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्ण-पावं, अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ।।१८।।

सं.छा.: न परं वदति, अयं कुशीलः, येनाऽन्यः कुप्यति न तद् ब्रवीति।
ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपापं, आत्मानं न समुत्कर्षति यः स भिक्षुः ।।१८।।

भावार्थ : प्रत्येक आत्मा के पुण्य-पाप, का उदय पृथक्/पृथक् है। ऐसा जानकर यह कुशील है, दुराचारी है, ऐसा न कहे, जिस वचन से दूसरा कुपित हो, ऐसा वचन भी न कहे, स्वयं में गुण हो तो भी उत्कर्ष, गर्व न करे, वह भिक्षु है ।।१८।।

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएण मत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाण-रए जे स भिक्खू।।१९।।

सं.छा.: न जातिमत्तो न च रूपमत्तो, न लाभमत्तो न श्रुतेन मत्तः।
मदान् सर्वान् विवर्ज्य, धर्मध्यानरतो यः स भिक्षुः ।।१९।।

भावार्थ : जो साधु जाति का, रूप का, लाभ का, श्रुत का मद नहीं करता और भी सभी मदों का त्यागकर, धर्म ध्यान में तत्पर रहता है वह भिक्षु है ।।१९।।

पवेयए अज्ज-पयं महामुणी, धम्मे ठिओ ठावयइ परंपि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं, न यावि हासं कुहए जे स भिक्खू ।।२०।।

सं.छा.: प्रवेदयति, आर्यपदं महामुनिः, धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि।
निष्क्रम्य वर्जयति कुशीललिङ्गं, न चापि हास्यकुहको यः स भिक्षुः।।२०।।

भावार्थ : जो महामुनि परोपकार हेतु शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं और गृहस्थाश्रम से निकलकर आरंभादि कुशीलता की चेष्टा एवं हास्यकारी चेष्टा नहीं करते, वे साधु कहे जाते हैं ।।२०।।

तं देहवासं असुइं असासयं, सया चए निच्च-हियट्ठियप्पा।
छिंदित्तु जाइ-मरणस्स बंधणं, उवेई भिक्खू अपुणागमं गइं ।।२१।।
।। त्ति बेमि ।।

सं.छा.: तं देहवासं, अशुचिं, अशाश्वतं, सदा त्यजति नित्यहिते स्थितात्मा।
छित्त्वा जाति-मरणस्य बन्धनं, उपैति भिक्षुः, अपुनरागमां गतिम्।।२१।।
।।इति ब्रवीमि।।

भावार्थ : मोक्ष के साधन भूत, सम्यग्दर्शनादि में स्थित साधु, अशुचि से भरे हुए अशाश्वत देहावास का त्यागकर, जन्म मरण के बन्धनों को छेदकर, पुनर्जन्म रहित गति को प्राप्त करता है।।२१।।

श्री शय्यंभवसूरीश्वरजी म. कहते हैं कि मैं तीर्थंकर गणधरादि का कहा हुआ कहता हूँ।

❋ ❋ ❋

श्री दशवैकालिके प्रथम चूलिका

उपयोगी शब्दार्थ - (पव्वइएणं) प्रव्रजित (ओहाणुप्पेहिणा) संयम का त्याग करने की इच्छावाला (रस्सि) लगाम (पोय) पोत (संपडिलेहिअव्वाइं) विचार करने योग्य ।।१।। (लहुसगा) असार (इत्तरिआ) क्षणिक (भूज्जो) बार-बार (सायबहुला) मायाबहुल (अवट्ठाइ) रहनेवाला (ओमजणपुरक्कारे) नीच जन को भी मान सन्मान देना पड़े (पडिआयणं) वमन पिना (अहरगइवासोवसंपया) नीच गति में जाने रूप कर्म बंधन (सोवक्केसे) क्लेशरहित (कुसग्ग) कुश के अग्रभाग पर (दुच्चिन्नाणं) दुष्टकर्म (वेइत्ता) भोगकर (झोसइत्ता) जलाकर (आयइं) भविष्यकाल (अवबुज्झइ) जानता है ।।१।। (ओहाविओ) भ्रष्ट होकर (छमं) पृथ्वी पर ।।२।। (पूइमो) पूजने योग्य ।।३।। (माणिमो) मानने योग्य (सिट्ठिव्व) श्रीमंत जैसा (कब्बडे) गाँव में (छूढो) गिरा हुआ ।।५।। (समइक्कंत) जाने के बाद (गलं) गल, लोह कांटे पर का मांस ।।६।। (कुतत्तीहिं) दुष्ट चिंताओं से ।।७।। (परिकित्तो) खूंचा हुआ (मोह संताण संतओ) कर्म प्रवाह ो व्याप्त

बना हुआ ।।८।। (रयाणं) रक्त प्रीति रखनेवाला ।।१०।। (अवेयं) रहित (जन्नग्गि) यज्ञ की अग्नि (दुव्विहिअं) दुष्ट व्यापार करनेवाला (दाढुड्डियं) जहर युक्त दाढ़ से रहित सर्प ।।१२।। (दुन्नामधिज्जं) निंदनीय नाम (पिहुज्जणंमि) नीच लोक में (चुअस्स) भ्रष्ट बने हुए को (संभिन्नवित्तस्स) चारित्र को खंडित करनेवाली ।।१३।। (पसज्झ चेअसा) स्वच्छंद मन से (कट्टु) करके (अणहिज्झिअं) धारणा बिना की, अनिष्ट दुःखपूर्ण ।।१४।। (दुहोवणीअस्स) दुःख द्वारा प्राप्त (किलेसवत्तिणो) एकांत क्लेशयुक्त ।।१५।। (अविस्सइ) जावे (जीविअ पज्जवेण) आयुष्य के अंत से ।।१६।। (नो पइलंति) चलित न कर सके (उविंतवाया) तुफानी पवन (संपस्सिअ) विचारकर (अहिट्ठिज्जासि) आश्रय करे ।।१८।।

प्रवर्जित पतन से कैसे बचे?

इह खलु भो पव्वइएणं उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइ-समावन्न-चित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सि-गयंकुस-पोय-पडागा-भूआइं ईमाइं अट्ठारस ठाणाईं सम्मं संपडिलेहिअव्वाइं भवंति।

सं.छा.: इह खलु भोः प्रव्रजितेन, उत्पन्नदुःखेन संयमे अरतिसमापन्नचित्तेन, अवधानोत्प्रेक्षिणाऽनवधावितेनैव हयरश्मिगजाङ्कुशपोतपताका-भूतानि, अमूनि, अष्टादश स्थानानि सम्यक् सम्प्रेक्षितव्यानि भवन्ति।

भावार्थ : हे शिष्यों! जिस प्रव्रजित साधु का शारीरिक या मानसिक दुःख उत्पन्न होने पर संयम पालन में उद्वेग अरति के कारण चित्त उद्विग्नता युक्त हो गया है। और संयम को छोड़ने की इच्छावाला बन गया है, पर संयम का त्याग नहीं किया है। उस प्रवर्जित मुनि को निम्न अठारह स्थानों को भलीभांति समझना चाहिए।

ये अठारह स्थान मुनि को उन्मार्ग से सन्मार्ग पर लाने हेतु उसी प्रकार उपयोगी है जिस प्रकार अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश, नौका के लिए ध्वजा/पताका आवश्यक है।

तं जहा - हं भो दुस्समाए दुप्पजीवी (१) लहुसगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा, (२) भुज्जो अ साइबहुला मणुस्सा, (३) इमे अ मे दुक्खे न चिरकालो- वट्ठाइ भविस्सइ, (४) ओमजणपुरक्कारे, (५) वंतस्स य पडिआयणं, (६) अहरगइ वासोवसंपया, (७) दुल्लहे खलु भो गिहीणं धम्मे गिहवासमज्झे वसंताणं, (८) आयंके से वहाय होइ, (९) संकप्पे से वहाय होइ (१०) सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परिआए, (११) बंधे गिहवासे, मुक्खे

परिआए, (१२) सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परिआए, (१३) बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा, (१४) पत्तेअं पुन्नपावं, (१५) अणिच्चे खलु भो मणुआण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले, (१६) बहुं च खलु भो पावं कम्मं पगडं, (१७) पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिकंताणं वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता (१८) अट्ठारसमं पयं भवई, भवई अ इत्थ सिलोगो।।

सं.छा.: तद्यथा हं भो दुःषमायां दुष्प्रजीविनः (१) लघव इत्वरा गृहिणां कामभोगाः (२) भूयश्च स्वातिबहुला मनुष्याः (३) इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति (४) अवमजन-पुरस्कारः (५) वान्तस्य प्रत्यापानम् (६) अधरगतिवासोपसम्पत् (७) दुर्लभः खलु भो! गृहिणां धर्मो गृहपाशमध्ये वसताम् (८) आतङ्कस्तस्य वधाय भवति (९) सङ्कल्पस्तस्य वधाय भवति (१०) सोपक्लेशो गृहवासः, निरुपक्लेशः पर्यायः, (११) बन्धो गृहवासः, मोक्षः पर्यायः, (१२) सावद्यो गृहवासः, अनवद्यः पर्यायः, (१३) बहुसांधारणा गृहिणां कामभोगाः (१४) प्रत्येकं पुण्यपापं, (१५) अनित्यं खलु भो! मनुष्याणां जीवितं कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलम् (१६) बहु च खलु भोः! पापं कर्म प्रकृतं (१७) पापानां च खलु भोः कृतानां कर्मणां, पूर्वं दुश्चरितानां दुष्पराक्रान्तानां वेदयित्वा मोक्षो, नास्ति अवेदयित्वा, तपसा वा क्षपयित्वा (१८) अष्टादशं पदं भवति, भवति चात्र श्लोकः ।।

भावार्थ : वे अठारह स्थान इस प्रकार है।

(१) ओह! इस दुःषम काल के प्रभाव से प्राणी दुःख से जीवन व्यतीत करते हैं तो मुझे विडंबना दायक गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन? (२) गृहस्थाश्रम के काम भोग असार, अल्पकालस्थायी, मधुलिप्त तलवार की धार जैसे होने से, मुझे इसका क्या प्रयोजन? (३) गृहस्थाश्रम के मानव, माया की प्रबलतावाले होने से विश्वासपात्र नहीं हैं, विश्वास पात्र न होने से वहां सुख कैसा? (४) साध्ववस्था का शारीरिक मानसिक दुःख चिरस्थाई तो है नहीं तो फिर गृहस्थाश्रम का क्या प्रयोजन? (५) राजा महाराजाओं से सन्मानित मुनि को दीक्षा छोड़ने पर नीच वर्ग के लोगों का भी सन्मान करना पड़ेगा। ऐसे गृहस्थाश्रम का क्या प्रयोजन? (६) त्यागे हुए भोगों को ग्रहण करने पर वमन पदार्थ खाने वाले श्वानादि समान, मुझे बनना पड़ेगा। ऐसे गृहस्थाश्रम का

क्या प्रयोजन? (७) संयम जीवन को छोड़ना अर्थात् नरकादि गतिओं में निवास योग्य कर्म बन्धन करना। ऐसे दुःखदायक गृहस्थाश्रम का क्या प्रयोजन? (८) ओह! पुत्र कलत्रादि के मोहपाश से बद्ध गृहस्थ को धर्म का स्पर्श निश्चय से दुर्लभ है। ऐसे गृहस्थाश्रम का क्या प्रयोजन? (९) गृहस्थ को सहायक रूप में धर्मबंधु न होने से विशुचिकादि रोग द्रव्यभाव प्राणों को नष्ट कर देता है। ऐसे गृहस्थाश्रम का क्या प्रयोजन? (१०) संकल्प विकल्प की उत्पत्ति सतत होते रहने से मानसिक रोग गृहस्थ के नाश के लिए होता है। ऐसे गृहस्थाश्रम से क्या प्रयोजन? (११) गृहवास आजीविकादि की प्रवृत्ति के कारण क्लेश सहित है एवं दीक्षा पर्याय क्लेश रहित है। (१२) गृहवास के अनुष्ठान अशुभ कर्मबंधन कारक हैं एवं व्रत पर्याय कर्म क्षय का कारण है। (१३) गृहवास में पांचों आश्रवों का आसेवन होने से सावद्य पापयुक्त है मुनि पर्याय आश्रवरहित होने से अनवद्य पापरहित है। (१४) गृहस्थ के काम भोग सर्वसाधारण है निच जन को भी काम भोग सुलभ है ऐसे भोगों के लिए चारित्रावस्था का त्याग क्यों करूं? (१५) पाप, पुण्य का फल प्रत्येक आत्मा को, करनेवाले को भुगतना पड़ता है तो गृहवास में अनेक आत्माओं के लिए अकेला पापकर उसके कटु फल मैं क्यों भोगुं? (१६) ओह! मानव का आयुष्य अनित्य है कुश के अग्रभाग पर स्थित जल-बिंदु सम है तो सोपक्रम आयु से मैं आराधना का फल क्यों छोडुं? (१७) ओह! मैंने पूर्व भवों में अति संक्लेश फलदाता चारित्रावरणीय कर्म को बांधा हुआ है अतः चारित्र छोड़ने की नीच बुद्धि उत्पन्न हुई है अति अशुभ कर्म उत्पादक ऐसे गृहस्थाश्रम का क्या प्रयोजन? (१८) ओह! दुष्ट चरित्र एवं दुष्ट पराक्रम के कारण पूर्व में अशुभ कर्म जो बांधे हैं उनको भोगे बिना मोक्ष नहीं होता। वे भोगे बिना या तपधर्म द्वारा उनका क्षय किये बिना मोक्ष नहीं होता। अतः तपश्चर्यादि अनुष्ठान कल्याण रूप है अतः गृहस्थाश्रम को स्वीकार न करना यही कल्याणरूप है। यह अठारवाँ स्थान है। इन अर्थो का प्रतिपादन करनेवाले श्लोक कहे जाते हैं।

भविष्यकाल का विचार :-

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झई ।।१।।

सं.छा.: यदा च त्यजति धर्मं, अनार्यो भोगकारणात्।
स तत्र मूर्च्छितो बालः, आयतिं नावबुध्यते ।।१।।

भावार्थ : अनार्यो जैसी चेष्टा करनेवाला मुनि भोगार्थ साधु धर्म का त्याग करता है तब वह विषयों में मूर्च्छित अज्ञानी-बाल भविष्य काल को अच्छी प्रकार नहीं समझता/नहीं देखता/नहीं जानता।।१।।

पश्चाताप का कारण :-

जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं।
सव्व-धम्म-परिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ।।२।।

सं.छा.: यदा अवधावितो भवति, इन्द्रो वा पतितः क्ष्माम्।
सर्वधर्मपरिभ्रष्टः, स पश्चात् परितप्यते ।।२।।

भावार्थ : जैसे इन्द्र देवलोक के वैभव से च्युत होकर भूमि पर खड़ा परिताप पाता है वैसे प्रव्रज्या छोड़कर गृहस्थ बना हुआ व्यक्ति सभी धर्मों से परिभ्रष्ट होकर बाद में पश्चात्ताप करता है।।२।।

जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो।
देवया व चुआ ठाणा, स पच्छा परितप्पइ ।।३।।

सं.छा.: यदा च वन्द्यो भवति, पश्चाद् भवति अवन्द्यः।
देवतेव च्युता स्थानात्, स पश्चात् परितप्यते ।।३।।

भावार्थ : श्रमण पर्याय में राजादि से वंदनीय होकर जब दीक्षा छोड़ देता है तब अवंदनीय होकर बाद में परिताप करता है। जैसे स्वस्थान से च्युत देवता।।३।।

जया अ पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्ज-पब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पई ।।४।।

सं.छा.: यदा च पूज्यो भवति, पश्चाद् भवति अपूज्यः।
राजेव राज्यप्रभ्रष्टः, स पश्चात् परितप्यते ।।४।।

भावार्थ : श्रमण पर्याय में पूज्य बनकर गृहस्थाश्रम में अपूज्य बनकर वैसे परिताप करता है जैसे राज्यभ्रष्ट राजा।।४।।

जया अ माणिमो होइ, पच्छा होइ अमाणिमो।
सिट्ठिव्व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पइ ।।५।।

सं.छा.: यदा च मान्यो भवति, पश्चाद् भवति अमान्यः।
श्रेष्ठीव कर्बटे क्षिप्तः, स पश्चात् परितप्यते ।।५।।

भावार्थ : श्रमण पर्याय में माननीय बनकर गृहस्थ कर्म में अमाननीय बनता है। वह परिताप पाता है, नगरशेठ पद से च्युत छोटे कस्बे में रखे गये-नगरशेठ के समान।।५।।

जया अ थेरओ होई, समइक्कंत-जुव्वणो।
मच्छु व्व गलं गिलित्ता, स पच्छा परितप्पई ।।६।।

सं.छा.: यदा च स्थविरो भवति, समतिक्रान्तयौवनः ।
मत्स्य इव गलं गिलित्वा, स पश्चात् परितप्यते ।।६।।

भावार्थ : लोह के कांटे पर रखे हुए मांस को खाने की इच्छा से जाल में पड़ा हुआ मत्स्य पश्चात्ताप करता है वैसे ही दीक्षा त्यागी मुनि युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त

करता है तब कर्म के विपाक को भोगते हुए पश्चात्ताप करता है।।६।।

जया अ कु-कुडुंबस्स, कु-तत्तीहिं विहम्मई।
हत्थी व बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पई ।।७।।

सं.छा.: यदा च कुकुटुम्बस्य, कुतप्तिभिर्विहन्यते।
हस्तीव बन्धने बद्धः, स पश्चात् परितप्यते ।।७।।

भावार्थ : जैसे बंधन से बंधा हाथी पश्चात्ताप करता है वैसे दीक्षा को छोड़ने के बाद कुटुंब को संताप कराने वाली चिंता से पश्चात्ताप करता है।।७।।

पुत्त-दार-परिकिण्णो, मोहसंताण-संतओ।
पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पइ ।।८।।

सं.छा.: पुत्रदारपरिकीर्णो, मोहसन्तानसन्ततः।
पङ्कावसन्नो यथा नागः, स पश्चात् परितप्यते ।।८।।

भावार्थ : जैसे पंक में फंसा हुआ हाथी पश्चात्ताप करता है वैसे श्रमण पर्याय छोड़ने के बाद पुत्र, स्त्री आदि के प्रपंच में फंसा हुआ कर्म प्रवाह से व्याप्त बनकर पश्चात्ताप करता है।।८।।

अज्ज आहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ।
जइ अहं रमंतो परिआए, सामण्णे जिणदेसिए ।।९।।

सं.छा.: अद्याऽहं गणी स्यां, भावितात्मा बहुश्रुतः।
यद्यहं अरमिष्ये पर्याये, श्रामण्ये जिनदेशिते ।।९।।

भावार्थ : कोई बुद्धिमान आत्मा इस प्रकार पश्चात्ताप करता है, कि 'जो मैं जिन कथित श्रमण पर्याय में स्थिर रहा होता तो भावितात्मा, बहुश्रुत होकर आज मैं आचार्य पद को प्राप्त किया होता ।।९।।

देवलोग-समाणो अ, परिआओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं च, महानरय-सारिसो ।।१०।।

सं.छा.: देवलोकसमानस्तु, पर्यायो महर्षीणाम्।
रतानामरतानां च, महानरकसदृशः ।।१०।।

भावार्थ : दीक्षा पर्याय में आसक्त जिन महात्माओं को यह चारित्र पर्याय देवलोक समान लगता है, वही दीक्षा पर्याय में अप्रीति रखने वाले विषयेच्छु-जैन वेषविडंबकों को पामरजन को महानरक समान लगता है ।।१०।।

अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं, रयाण परिआइ तहाऽरयाणं।
निरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं, रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ।।११।।

सं.छा.: अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमं, रतानां पर्याये तथाऽरतानाम्।

नरकोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं, रमेत तस्मात् पर्याये पण्डितः ।।११।।

भावार्थ : श्रमण पर्याय में रक्त आत्मा को देव समान उत्तम सुख जानकर और श्रमण पर्याय में अप्रीति धारक आत्मा को नरक समान भयंकर दुःख जानकर पंडित पुरुषों को दीक्षा पर्याय में आसक्त रहना चाहिए।।११।।

धर्म भ्रष्ट की अवहेलना :-

धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेयं, जन्नग्गिं विज्झाअ-मिवऽप्पतेअं।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला, दाढुद्धिअं घोरविसं व नागं ।।१२।।

सं.छा.: धर्माद् भ्रष्टं श्रियोऽपेतं, यज्ञाग्निं विध्यातमिवाऽल्पतेजसम्।
हीलयन्ति, एनं दुर्विहितं कुशीलाः, उद्धृतदंष्ट्रं घोरविषमिव नागम् ।।१२।।

भावार्थ : चारित्र धर्म से भ्रष्ट, तपरूप लक्ष्मी से रहित, मुनि अयोग्य आचरण के कारण यज्ञाग्नि के सम निस्तेज होकर राख सम कदर्थना प्राप्त करता है। सहचारी उसकी अवहेलना करते हैं। दाढ़े उखाड़ लेने के बाद घोर विषधर सर्प की अवहेलना लोग करते हैं। वैसे ही दीक्षा से भ्रष्ट व्यक्ति की लोग अवहेलना करते हैं।।१२।।

इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणंमि।
चुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गइ ।।१३।।

सं.छा.: इहैवाऽधर्मोऽयशोऽकीर्तिः, दुर्नामधेयं च पृथग् जने।
च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः, सम्भिन्नवृत्तस्य चाधस्ताद्गतिः ।।१३।।

भावार्थ : धर्म भ्रष्ट आत्मा को इस लोक में लोग अधर्मी शब्द से संबोधित करते हैं, सामान्य नीच वर्ग में भी उसकी अपयश, अपकीर्ति एवं बदनामी के द्वारा अवहेलना होती है। स्त्री परिवारादि निमित्ते छकाय हिंसक बनकर अधर्म सेवी एवं चारित्र के खंडन से क्लिष्ट-अशुभ कर्मो का बंधकर नरकादि गतियों में चला जाता है।।१३।।

भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेअसा, तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणभिज्झिअं दुहं, बोही अ से नो सुलहा पुणो पुणो ।।१४।।

सं.छा.: भुक्त्वा भोगान् प्रसह्य चेतसा, तथाविधं कृत्वाऽसंयमं बहुम्।
गतिं च गच्छत्यनभिध्यातां दुःखां, बोधिश्चास्य नो सुलभा पुनः पुनः।।१४।।

भावार्थ : चारित्र से भ्रष्ट स्वच्छंद चित्त से भौतिक भोगों को भोगकर अज्ञ जनोचित प्रचुर असंयमाचरणकर आयु पूर्णकर स्वभाव से ही असुंदर दुःखजनक अनिष्ट गति में जाता है। उसे बार-बार जन्म मरण करने पर भी बोधि/सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती वह दुर्लभ बोधी होता है। उसको प्रवचन की विराधना करने के कारण दुर्लभ बोधिपना प्राप्त होता है।।१४।।

इमस्स ता नेरईअस्स जंतुणो, दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ।।१५।।

सं.छा.: अस्य तावन्नैरयिकस्य जन्तोः, दुःखोपनीतस्य क्लेशवृत्तेः।
पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं, किमङ्ग पुनर्ममेदं मनोदुःखम् ।।१५।।

भावार्थ : हे जीव! नरकगति के नारकी जीव का दुःख प्रचुर एवं एकांत क्लेशयुक्त पल्योपम एवं सागरोपम का आयुष्य भी पूर्ण हो जाता है तो संयम में मानसिक दुःख मुझे कितने समय रहेगा कदाचित् शारीरिक दुःख उत्पन्न हुआ है तो वह भी कितने काल तक रहेगा? ऐसा विचारकर दीक्षा को छोड़ने का विचार न करें ।।१५।।

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ, असासया भोगपिवासा जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सई, अविस्सइ जीविअ-पज्जवेण मे ।।१६।।

सं.छा.: न मे चिरं दुःखमिदं भविष्यति, अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः।
न चेच्छरीरेणानेनापयास्यति, अपयास्यति जीवितपर्ययेण मे ।।१६।।

भावार्थ : चारित्रावस्था में मानसिक शारीरिक दुःख चिरस्थाई नहीं रहेगा, एवं जीवों की भोग पिपासा अशाश्वत है, कदाचित् इस जन्म में भोग पिपासा न जाय तो भी मरण मृत्यु के साथ तो अवश्य जायगी अतः मुझे चारित्र छोड़ने का विचार छोड़ देना चाहिए।।१६।।

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ, चइज्जं देहं न हु धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पयलंति इंदिआ, उविंतवाया व सुदंसणं गिरिं ।।१७।।

सं.छा.: यस्यैवमात्मा तु भवेन्निश्चितः, त्यजेद्देहं न तु धर्मशासनम्।
तं तादृशं नो प्रचालयन्तीन्द्रियाणि, उत्पतद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम् ।।१७।।

भावार्थ : जिस साधु ने ऐसा दृढ विचारकर निश्चित किया है कि देह का त्याग कर देना पर जिनाज्ञा का त्याग न करना। उस आत्मा को इंद्रियों के लुभावने विषय विकार अंश मात्र भी संयम स्थान से चलित नहीं कर सकते। दृष्टांत के रूप में प्रलय काल का तुफानी पवन क्या मेरू पर्वत को कंपायमान कर सकता है? नहीं। वैसे निश्चित दृढ़ विचारवान् आत्मा को विषय विकार अंशमात्र चलित नहीं कर सकते ।।१७।।

उपसंहार :-

इच्चेव संपस्सिअ बुद्धिमं नरो, आयं उवायं विविहं विआणिआ।
काएण वाया अदु माणसेणं, तिगुत्तिगुत्तो जिणवयण-महिट्ठिज्जासि।।१८।।

।। त्तिबेमि ।।

सं.छा.: इत्येवं सम्प्रेक्ष्य बुद्धिमान्नरः, आयमुपायं विविधं विज्ञाय।
कायेन वाचाऽथ मानसेन, त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत् ।।१८।।

।। इति ब्रवीमि ।।

भावार्थ : यथायोग्य ज्ञानादि का लाभ एवं विनयादि विविध प्रकार के उपायों का

बुद्धिमान् साधु को सम्यक् प्रकार से विचारकर तीन गुप्तियों से गुप्त मन-वचन-काया से गुप्त होकर जिनवाणी का आश्रय लेना अर्थात् जिनाज्ञानुसार चारित्र का पालन करना ।।१८।।

तीर्थंकरादि द्वारा कहा हुआ मैं कहता हूँ।

❋ ❋ ❋

श्री दशवैकालिके द्वितीय चूलिका

संबंध - प्रथम चूलिका में संयम मार्ग में शीथिल बनकर संयम छोड़ने के भाव करनेवाले आत्मा को स्थिर करने हेतु मार्गदर्शन दिया। अब इस चूलिका में संयम में स्थिर साधु की स्थिरता हेतु विहार संबंधी विवरण दर्शाया है। यहां विहार का अर्थ दैनिक चर्या है। दिनभर अर्थात् जीवन भर के आचार पालन के स्वरूप को दर्शाया है।

उपयोगी शब्दार्थ - (चूलिअं) चूलिका को (पवक्खामि) कहेंगे ।।१।। (अणुसोअ-पट्ठिअ) विषय प्रवाह के वेग में अनुकुल (पडिसोय) विषय प्रवाह के विपरीत प्रतिश्रोत (लद्धलक्खेणं) लब्ध लक्ष्य (दायव्वो) देना (होउकामेणं) मुक्ति की इच्छावाले ।।२।। (आसवो) दीक्षारूपी आश्रम (उत्तारो) उत्तार ।।३।। (दट्ठव्वा) जानने योग्य ।।४।। (अनिएअ) अनियत (पइरिक्कया) एकान्तवास ।।५।। (आइन्न) आकीर्ण राजकुलादि (ओमाण) अपमान, (विवज्जमाणा) वर्जन (ओसन्न) प्रायः करके (दिट्ठहड) देखकर लाया हुआ (जइज्जा) यत्न करे ।।६।। (पयओ) प्रयत्न करनेवाला ।।६।। (पडिन्नविज्जा) प्रतिज्ञा करावे (कहिं) कदाचित्, किसी भी ।।८।। (असज्जमाणो) आसक्ति रहित ।।१०।। (संवच्छरं) वर्षाऋतु (आणवेइ) आज्ञा करे ।।११।। (पुव्वरत्त) प्रथम प्रहर (अवररत्त) अंतिम प्रहर (सक्कणिज्जं) शक्य हो वह ।।१२।। (खलिअं) प्रमाद (अणुपासमाणो) विचारनेवाला, देखनेवाला ।।१३।। (आइन्नओ) जातिवंत (खलीणं) लगाम ।।१४।। (पडिबुद्ध जीवी) प्रमाद रहित ।।१५।। (उवेइ) प्राप्त करता है, पाता है ।।१६।।

विविक्त चर्या :-

चूलिअं तु पवक्खामि, सुअं केवलि-भासिअं।
जं सुणित्तु सुपुण्णाणं, धम्मे उप्पज्जई मई ।।१।।

सं.छा.: चूलिकां तु प्रवक्ष्यामि, श्रुतं केवलिभाषितम्।
यच्छ्रुत्वा सुपुण्यानां, धर्मे उत्पद्यते मतिः ।।१।।

भावार्थ : मैं उस चूलिका की प्ररूपणा करूंगा जो चूलिका श्रुतज्ञान है केवल ज्ञानी भगवंतों ने कही हुई है, जिसे श्रवणकर पुण्यवान् आत्माओं को अचिन्त्य चिंतामणी रूपी चारित्र धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है।।१।।

अणुसोअ-पट्ठिअ-बहुजणंमि, पडिसोअ-लद्ध-लक्खेणं।

पडिस्सोअमेव अप्पा, दायव्वो होउ-कामेणं ।।२।।

सं.छा.: अनुस्रोतः प्रस्थिते बहुजने, प्रतिस्रोतलब्धलक्षेण।
प्रतिस्रोत एव आत्मा, दातव्यो भवितुकामेन ।।२।।

भावार्थ : नदी के पूर प्रवाह में काष्ठ के समान विषय; कुमार्ग द्रव्य, क्रिया के अनुकूल प्रवृत्तिशील अनेक लोग संसार रूपी समुद्र की ओर गति कर रहे हैं। पर जो मुक्त होने की इच्छावाला है, जिसे प्रतिस्रोत की ओर गति करने का लक्ष्य प्राप्त हो गया है, जो विषय भोगों से विरक्त बन संयम की आराधना करना चाहता है उसे अपनी आत्मा को विषय, प्रवाह से विपरीत-मार्ग, संयम-मार्ग का लक्ष्य रखकर स्वात्मा को प्रवृत्त करना चाहिए।।२।।

अणुस्सोअसुहो लोओ, पडिस्सोओ आसवो सुविहिआणं।
अणुस्सोओ संसारो, पडिस्सोओ तस्स उत्तारो ।।३।।

सं.छा.: अनुस्रोतःसुखो लोकः, प्रतिस्रोत आश्रवः (मः) सुविहितानाम्।
अनुस्रोतः संसारः, प्रतिस्रोतस्तस्मादुत्तारः ।।३।।

भावार्थ : बहुलकर्मी जन साधारण की विषय भोगों की ओर प्रवृत्ति सुखकारी है अर्थात् अनुकूल प्रवृत्ति सुखकारी है पर नदी के प्रवाह में सामने तैरना अत्यंत कठिन है वैसे विषयासक्त लोगों को इंद्रिय जयादि रूप या दीक्षा पालन रूप आश्रम प्रतिश्रोत समान कठिन है। विषय में प्रवृत्ति करने रूप अनुश्रोत में चलने से संसार की वृद्धि होती है उसका त्यागकर प्रतिश्रोत में प्रवृत्ति करने से संसार से पार पाया जाता है।।३।।

तम्हा आयार-परक्कमेणं, संवर-समाहि-बहुलेणं।
चरिआ गुणा अ नियमा अ, हुंति साहूण दट्ठव्वा ।।४।।

सं.छा.: तस्मादाचारपराक्रमेण, संवरसमाधिबहुलेन।
चर्या गुणाश्च नियमाश्च, भवन्ति साधूनां द्रष्टव्याः ।।४।।

भावार्थ : इसी कारण से ज्ञानाचारादि रूप आचार में प्रयत्न करनेवाले और इंद्रियादि विषयों में संवर करने वाले सभी प्रकार से आकुलता रहित मुनि भगवंतों को एक स्थान पर निरंतर न रहने रूपी चर्या, मूल गुण, उत्तर गुण, रूप गुण और पिंडविशुद्धि आदि नियमों का पालन करने हेतु उन पर दृष्टिपात करना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए।।४।।

अनिएअ-वासो समुआण-चरिआ, अन्नाय-उंछं पइरिक्कया अ।
अप्पोवही कलहविवज्जणा अ, विहार-चरिआ इसिणं पसत्था ।।५।।

सं.छा.: अनियत (अनिकेत) वासः समुदानचर्या, अज्ञातोञ्छं प्रतिरिक्तता चं।
अल्पोपधित्वं कलहविवर्जना च, विहारचर्या, ऋषीणां प्रशस्ता ।।५।।

भावार्थ : अनियतवास (एक स्थान पर मर्यादा उपरांत अधिक न रहना), अनेक स्थानों

से याचना पूर्वक भिक्षाग्रहण करना, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना, निर्जन-एकान्त स्थल में रहना, निर्दोष उपकरण लेना, अल्पोपधि रखना, क्लेश का त्याग करना। इस प्रकार मुनियों की विहार चर्या प्रशस्त (प्रशंसा योग्य) है। वह स्थिरतापूर्वक आज्ञा पालन द्वारा भावचारित्र का साधन होने से पवित्र है।।५।।

आहार शुद्धि :-

आइण्ण-ओमाण-विवज्जणा अ, ओसन्न-दिट्ठाहड-भत्तपाणे।
संसट्ठ-कप्पेण चरिज्ज भिक्खू, तज्जाय-संसट्ठ जई जईज्जा ।।६।।

सं.छा.: आकीर्णापमानविवर्जना च, उत्सन्नदृष्टाहृतभक्तपानम्।
संसृष्टकल्पेन चरेच्च भिक्षुः, तज्जातसंसृष्टो यतिर्यतेत ।।६।।

भावार्थ : मुनि राजकुल में (आकीर्ण) एवं जिमनवार में (अवमान) गोचरी हेतु न जावे। जहां जाने से स्वपक्ष से या पर पक्ष से अपमान होता है वहां भी न जाये। प्रायः दृष्टिगत स्थान से लाया हुआ आहार ले। अचित्त आहारादि से खरंटित भाजन, कडछी, हाथ आदि से आहार ले वह भी स्वजाति वाले आहार से खरंटित भाजन, कडछी हाथ आदि से आहार लेने का यत्न करें ।।६।।

अमज्ज-मंसासि अमच्छरीआ, अभिक्खणं निव्विगइं गया अ।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी, सज्झायजोगे पयओ हविज्जा ।।७।।

सं.छा.: अमद्यमांसाशी, अमत्सरी च, अभीक्ष्णं निर्विकृतिं गतश्च।
अभीक्ष्णं कायोत्सर्गकारी, स्वाध्याययोगे प्रयतो भवेच्च ।।७।।

भावार्थ : मुनि मदिरा, मांस का भक्षण न करें, मात्सर्यतारहित बने, बार-बार दुध आदि विगईयों का त्याग करें, बार-बार सौ कदम के ऊपर जाकर आने के बाद काउस्सग्ग करें,(इरियावही प्रतिक्रमण करे) और वाचना आदि स्वाध्याय में, वैयावच्च में और मुनियों को आयंबिलादि तपधर्म में अतिशय विशेष प्रयत्न करना चाहिए।।७।।

ममत्व त्याग :-

न पडिण्णविज्जा सयणासणाइं, सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्तभावं न कहिं पि कुज्जा ।।८।।

सं.छा.: न प्रतिज्ञापयेच्छयनासने, शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानम्।
ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे, ममत्वभावं न क्वचिदपि कुर्यात् ।।८।।

भावार्थ : मास कल्पादि पूर्ण होने के बाद विहार करते समय श्रावकों से प्रतिज्ञा न करावें की शयन, आसन, शय्या (वसति) निषद्या, सज्झाय करने की भूमि और आहार, पानी हम जब दूसरी बार आये तब हमें ही देना। इस प्रकार प्रतिज्ञा करवाने से ममत्व भाव की वृद्धि होती है। साधु ग्राम, नगर, कुल, देश आदि में ममत्व भाव न करें। दुःख के कारणभूत ममत्व भाव है।।८।।

गृहस्थ परिचय का त्याग :-

गिहिणो वेआवडिअं न कुज्जा, अभिवायण-वंदण-पूअणं वा।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसिज्जा, मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ।।९।।

सं.छा.: गृहिणो वैयावृत्त्यं न कुर्याद्, अभिवादनवन्दनपूजनं वा।
असङ्क्लिष्टैः समं वसेद्, मुनिश्चारित्रस्य यतो न हानिः ।।९।।

भावार्थ : साधु गृहस्थ की वैयावच्च न करें। वचन से नमस्कार, काया से वंदन, प्रणाम और वस्त्रादि द्वारा पूजा न करें। ऐसा करने से गृहस्थों से परिचय बढ़ने से चारित्र मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। दोनों का इससे अकल्याण होता है। इसी कारण से चारित्र की हानि न हो ऐसे असंक्लिष्ट परिणामवाले साधुओं के साथ रहना।।९।।

संग किसका :-

न या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहिअं वा गुणओ समं वा।
इक्को वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ।।१०।।

सं.छा.: न यदि लभेत निपुणं सहायं, गुणाधिकं वा गुणतः समं वा।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्, विहरेत् कामेषु असज्यमानः ।।१०।।

भावार्थ : स्वयं से ज्ञानादि गुणों में अधिक या स्व समान गुण युक्त मुनि के साथ या गुंण हीन होने पर भी जात्यकंचन समान-विनीत-निपुण-सहायक साधु जो न मिले तो संहनन आदि व्यवस्थित हो तो पाप के कारणभूत असद् अनुष्ठानों का त्याग करके, कामादि में आसक्त न होकर अकेले विहार करें। पर, पासत्थादि पाप मित्रों के साथ में न रहें ।।१०।।

कहां कितना रहना?

संवच्छरं वा वि परं पमाणं, बीअं च वासं न तहिं वसिज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरिज्ज भिक्खू, सुत्तस्स अत्थो जह आणवेई ।।११।।

सं.छा.: संवत्सरं वाऽपि परं प्रमाणं, द्वितीयं च वर्षं न तत्र वसेत्।
सूत्रस्य मार्गेण चरेद् भिक्षुः, सूत्रस्यार्थो यथाऽऽज्ञापयति ।।११।।

भावार्थ : मुनि ने जिस स्थान पर चातुर्मास किया है और शेष काल में एक महिना जहां रहा है वहां दूसरा चातुर्मास एवं दूसरा मास कल्प न करें। दूसरे तीसरे चातुर्मास या मासकल्प के बाद वहां रहा जा सकता है। भिक्षु सूत्रोक्त मार्ग से विहार करें। सूत्र का अर्थ जिस प्रकार आज्ञा दे अर्थात् जिनाज्ञानुसार विहार करें। गाढ कारण से कालमर्यादा से अधिक रहना पड़े तो भी स्थान बदलकर आज्ञा का पालन करें। कमरे का कोना बदलकर भी आज्ञा का पालन करें ।।११।।

साधु का आलोचन :-

जो पुव्वरत्तावररत्तकाले, संपिक्खए अप्पग-मप्पगेणं।

किं मे कडं? किं च मे किच्चसेसं?, किं सक्कणिज्जं न समायरामि?।।१२।।

सं.छा.: यः पूर्वरात्रापररात्रकाले, सम्प्रेक्षते आत्मानमात्मना।
किं मे कृतं? किं च मे कृत्यशेषं?, किं शक्यं न समाचरामि? ।।१२।।

भावार्थ : साधु रात्रि के प्रथम प्रहर में और अंतिम प्रहर में स्वात्मा से स्वात्मा का आलोचन करें, विचार करें कि - मैंने क्या क्या किया? मेरे करने योग्य कार्यों में से कौन-से कार्य प्रमाद वश नहीं कर रहा हूँ? इस प्रकार गहराई से सोचें विचारें फिर उस अनुसार शक्ति को छूपाये बिना आचरण करें ।।१२।।

दोष मुक्ति का उपाय :-

किं मे परोपासइ किं च अप्पा, किं वाहं खलिअं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ।।१३।।

सं.छा.: किं मे परः पश्यति? किं चात्मा, किंवाऽहं स्खलितं न विवर्जयामि।
इत्येवं सम्यगनुपश्यन्, अनागतं नो प्रतिबन्धं कुर्यात् ।।१३।।

भावार्थ : क्या मेरे द्वारा हो रही क्रिया की स्खलना को स्वपक्षी (साधु) परपक्षी (गृस्थादि) देखते हैं? या चारित्र की स्खलना को मैं स्वयं देखता हूँ? (मेरी भूल को मैं देखता हूँ?) चारित्र की स्खलना को मैं देखते हुए, जानते हुए भी स्खलना का त्याग क्यों नहीं करता? इस प्रकार जो साधु भलीभांति विचार करता है तो वह साधु भावी काल में असंयम प्रवृत्ति नहीं करेगा ।।१३।।

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, कारण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव खलीणं ।।१४।।

सं.छा.: यत्रैव पश्येत् क्वचिद् दुष्प्रयुक्तं, कायेन वाचाऽथ मानसेन।
तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेच्च, आकीर्णकः क्षिप्रमिव खलीनम् ।।१४।।

भावार्थ : जब-जब जहां कहीं भी मन-वचन-काया की दुष्प्रवृत्ति दिखायी दे, वहां धीर बुद्धिमान् साधु संभल जाय, जागृत बन जाय, भूल को सुधार ले। उस पर दृष्टांत कहते हैं कि जैसे जातिमान् अश्व लगाम को खिंची जानकर, नियमित गति में आ जाता है। सम्भल जाता है। साधु दुष्प्रवृत्ति का त्यागकर, सम्यग् आचार को स्वीकार करें ।।१४।।

प्रतिबुद्ध जीवी :-

जस्सेरिसा जोग जिइंदिअस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीअइ संजम-जीविएणं ।।१५।।

सं.छा.: यस्येदृशा योगा जितेन्द्रियस्य, धृतिमतः सत्पुरुषस्य नित्यम्।
तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनं, स जीवति संयमजीवितेन ।।१५।।

भावार्थ : जितेन्द्रिय, संयम में धीर सत्पुरुष ऐसे साधुओं के स्वहित चिंतन की, देखने

की प्रवृत्ति युक्त मन, वचन, काया के योग निरंतर प्रवृत्तमान है। ऐसे मुनि भगवंतों को लोक में 'प्रतिबुद्ध जीवी' कहा जाता है। ऐसे गुण युक्त साधु विचारवंत होने से संयम प्रधान जीवन जीते हैं ।।१५।।

अंतिम अणमोल उपदेश :-

अप्पा खलु सययं रक्खिअव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ, सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ।।१६।।

।। त्ति बेमि ।।

सं.छा.: आत्मा खलु सततं रक्षितव्यः, सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितेन।
अरक्षितो जातिपन्थानमुपैति, सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यते ।।१६।।

।। इति ब्रवीमि ।।

भावार्थ : सूत्रकार श्री कह रहे हैं कि - सभी इंद्रियों के विषय व्यापारों से निवृत्त होकर परलोक के अनिष्टकारी कष्टों से निरंतर स्वात्मा का रक्षण करना चाहिए। जो तुम इंद्रियों के विषय व्यापारों से आत्मा की सुरक्षा नहीं करोगे तो भवोभव (जातिपंथ) संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा। जो अप्रमत्तत्ता पूर्वक आत्मा का रक्षण करोगे तो शारीरिक मानसिक सभी दुःखों से दुःख मात्र से मुक्त हो जाओगे ।।१६।।

यह उपदेश तीर्थंकरादि के कथनानुसार सूत्रकार श्री कहते हैं।

।। इति श्री दशवैकालिकसूत्रं समाप्तम् ।।

❋ ❋ ❋

''तृषाणामकणानां हि, किं कस्याप्यादो भवेत?''

धान्यरहित तुष (घास) का क्या कहीं आदर होता है? वैसे ही आचारहीन व्यक्ति का क्या कहीं आदर होता है?

''गुरोः पदोर्मूलं आमरणान्तं न मोक्तव्यम्''

गुरु के चरणकमल को जीवन पर्यन्त नहीं छोडने चाहिए।

''धण्णा आवकहाए गुरुकुलवासं ण मुंचंति''

वे शिष्य धन्यवाद के पात्र हैं जो जीवन पर्यन्त गुरुकुलवास को नहीं छोडते।

MESCO PRINTS
080-22380470